श्रीअरविन्द कर्मधारा

जुलाई-अगस्त, २०२१ श्रीअरविन्द -150वीं जयंती - प्रथम विशेषांक वर्ष ५२ • अंक ४

श्रीअरविन्द कर्मधारा

श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा
की पत्रिका

जुलाई - अगस्त -२०२१

संस्थापक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर 'फकीर'

सम्पादन : डॉ. अपर्णा रॉय

विशेष परामर्श समिति

कु. तारा जौहर, विजया भारती,

ऑनलाइन पब्लिकेशन ऑफ

श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा

(निःशुल्क उपलब्ध)

कृपया सब्सक्राइब करें-
saakarmdhara@rediffmail.com

कार्यालय
श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली-शाखा
श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016
दूरभाषः 26567863, 26524810

आश्रम वेबसाइट
(www.sriaurobindoashram.net)

मेरा देश मेरी माँ

जबकि दूसरे लोग देश को जड़-पदार्थ समझते हैं और इसे मैदानों, खेतों, जगंलों, पर्वतों और नदियों का समूह मात्र मानते हैं; मैं स्पष्ट अनुभव करता हूँ कि मेरा देश मेरी माँ है। मैं जननी के रुप में इसकी आराधना, इसकी भक्ति करता हूँ।

जब माँ के वक्षस्थल पर बैठा दानव माँ का रक्त पीना चाहता हो तो बेटे को क्या करना चाहिए? क्या वह आराम से खाना खायेगा और अपने बच्चों और पत्नी के साथ रंगरेलियाँ मनायेगा या अपनी माँ की रक्षा के लिए दौड़ेगा? मैं जानता हूँ कि इस अधोगत राष्ट्र को उठाने का सामर्थ्य मुझ में है; शारीरिक सामर्थ्य नहीं, मैं कृपाण या बन्दूक की ताकत से संघर्ष नहीं करना चाहता, बल्कि ज्ञान की शक्ति से.....। यह मेरे अन्तर की कोई नयी अनुभूति नहीं है, यह विचार कोई अभी नहीं पैदा हुआ, बल्कि मैं इस विचार के साथ ही जन्मा, यह मेरी मज्जा में है। परमेश्वर ने इसी मिशन को पूरा करने के लिए मुझे पृथ्वी पर भेजा है।

-श्रीअरविन्द

15. 8. 72

Blessings

पत्रिका को श्रीमाँ का आशीर्वाद

विषय सूची

यह पुस्तक:

१. संपादकीय

अपर्णा ५

२. हे अरविन्द, रवीन्द्र का नमस्कार लो!, अरविंद, रवींद्रेर लहो नमस्कार !

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ७

३. भारतीय राजनीति (राष्ट्रनीति) की आवश्यकता

श्री डी. पी, गुप्ता १०

४. मानव-प्रगति पर विभिन्न मत और श्रीअरविन्द

माधव पंडित १२

५. वह जादू जो सर चढ़कर बोले!

विद्यावतीकोकिल १६

६. राजनीति नहीं, चेतना का रुपांतर

डॉ. केदारनाथ वर्मा २०

७. मनोमयचेतना के छायालोक के उस पार

छोटेनारायण शर्मा २३

८. नयी गरिमा से मण्डित उभरता हुआ भारत

भगवान के लिए, जगत के लिए उठता हुआ भारत

15 अगस्त, 1947 को दिया गया श्रीअरविन्द का सन्देश २५

९. भारतीय संस्कृति का मूल तत्व और प्रणाली

श्रीअरविन्द २८

१०. राष्ट्र-आत्मा की खोज

श्रीअरविन्द ३४

११. भारतीय चिन्तकों में अग्रवर्ती श्रीअरविन्द

रोमां रोलाँ ३९

१२. स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के आधार-शिल्पी

आचार्य जे.बी.कृपलानी ४०

१३. आश्रम गतिविधिया ४२

संपादकीय

प्रिय पाठकों,

आपकी पात्रिका 'श्रीअरविन्द कर्मधारा' अपनी विकास यात्रा के 5 दशक पूर्ण कर चुकी है, इस दौरान इसने कितने उतार-चढ़ाव पार किए इससे आप भी समय-समय पर अवगत होते रहे हैं। हमारा सौभाग्य है कि इस यात्रा में आपने सदा ही अपना साथ और सहयोग बनाए रखा ।

साथियों इस वर्ष श्रीअरविन्द की 149 वीं जन्म-जयन्ती की पूर्णता के साथ ही हम उनके जन्म के 150 वें वर्षारंभ का पूर्ण हर्षोल्लास के साथ स्वागत करते है ।

15 अगस्त हमारे देश, देशवसियों तथा समस्त विश्व के लिए कितनी महत्वपूर्ण तिथि हैं इस तथ्य से हम सभी अवगत हैं और इस मास की यह पात्रिका इस भाव की और भी स्पष्ट अभिव्यक्ति बने, यही हमारी आकांक्षा है। 15 अगस्त के दिन एक तो भारत वर्ष को आजादी मिली और दूसरे यह श्रीअरविन्द की पावन जन्म-तिथि है। एक ही दिन इन दोनों का घाटित होना कोई संयोग नहीं है, बल्कि यह अपने अन्दर एक गहन आध्यात्मिक संकेत धारण किए हुए है। श्रीअरविन्द के शब्दों में -

'मैं यह मानता हूँ कि इसके द्वारा भागवत-शक्ति-जो मेरा पथप्रदर्शन करती है, उस कार्य के लिए अपनी स्वीकृति दे चुकी है तथा उस पर उसने अपने आशीर्वाद की मुहर लगा दी है जिसको लेकर मैंने अपना जीवन प्रारम्भ किया था।'

हम श्रद्धालुओं के लिए इस दिन की महत्ता क्या हैं, आइए देखते हैं स्वयं श्रीमाँ के शब्दों में ही जानते हैं-

श्रीअरविन्द के जन्म का महत्त्व समझाते हुए श्रीमाँ कहती हैं, 'यह प्रश्न उन शब्दों से सम्बन्धित है जो मैंने श्रीअरविन्द के जन्म के बारे में कहे थे- ये उनके जन्मदिन की पूर्व सन्ध्या को कहे गये थे मैंने उसका एक "सनातन जन्म" के रूप में वर्णन किया था। मुझसे पूछा गया है कि "सनातन" से मेरा क्या अभिप्राय है...।

मैं तुम्हें समझाऊंगी कि कैसे इसकी एक भौतिक व्याख्या या अर्थ, एक मानसिक अर्थ, एक चैत्य अर्थ और एक आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है- और वास्तव में है भी।

भौतिक रूप में, इसका अर्थ यह है कि इस जन्म के परिणाम तब तक रहेंगे जब तक स्वयं पृथ्वी रहेगी। श्रीअरविन्द के जन्म के परिणाम पृथ्वी के सम्पूर्ण अस्तित्व-काल में अनुभव होते रहेंगे। अतः मैंने इसे कुछ कवित्वपूर्ण तरीके से "सनातन" कहा है।

मानसिक रूप में, यह एक ऐसा जन्म है जिसकी स्मृति सनातन काल तक बनी रहेगी। आगे, युगों तक श्रीअरविन्द का जन्म और उसके प्रभाव स्मरण किये जायेंगे।

चैत्य रूप में, यह एक ऐसा जन्म है जिसकी पुनरावृत्ति विश्व के इतिहास में शाश्वत रूप से युग-युग तक होती रहेगी। यह एक ऐसा प्रादुर्भाव है जो पृथ्वी के इतिहास में, युग-युग में, समय-समय पर होता है, अर्थात् यह जन्म स्वयं अपने आपको नये-नये रूपों में बार-बार दोहराता है और शायद प्रत्येक बार कुछ अधिक बड़ी चीज- अधिक सिद्ध और अधिक पूर्ण चीज- अपने साथ लाता है, परन्तु यह पार्थिव शरीर में अवतरित होने, अभिव्यक्त होने, जन्म लेने की वही क्रिया होती है और अन्त में, विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि यह जन्म पृथ्वी पर "सनातन" का जन्म है। क्योंकि प्रत्येक बार जब अवतार शरीर धारण करते हैं तो यह पृथ्वी पर स्वयं "सनातन" का जन्म होता है। यह पूरी बात, दो शब्दों में आ गयी है :

सनातन-जन्म।'

-श्रीमाँ

श्रीमाँ के इन शब्दों के बाद जब हम विचार करते हैं कि इस वर्ष श्रीअरविन्द की 150वीं जन्म-जयन्ती का आरंभ है तो हमारा उत्साह और भी बढ़ जाता है ।

इस दिन के लिए हम क्या करें, और कैसे करें? कि अपने प्रभु श्रीअरविन्द के प्रति हमारी आस्था और श्रद्धा सही रुप से अभिव्यक्त हो सके, और सहज ही हमारी दृष्टि पुन: श्रीमाँ की तरफ उठ जाती है जहाँ हम अपने समस्त प्रश्नों के उत्तर, शंकाओं के समाधान का एक मात्र स्रोत पाते हैं। श्रीमाँ के शब्द हमें बताते हैं कि इस दिन क्या होना चाहिए। श्रीअरविन्द की जन्म शताब्दी के समय उन्होंने कहा था- 'जो लोग श्रीअरविन्द की शताब्दी मना रहे हैं उनका आह्वान उनकी उपस्थिति को अधिक सक्रिय और प्रभावकारी बनाता है। लेकिन जो हमेशा उनके साथ रहते हैं उन्हें इससे कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता।

जब लोग समाधि के पास उन पर एकाग्र होते हैं तब भी यही होता है; वे हमेशा वहां रहते हैं, परन्तु उनकी पुकार के उत्तर में उनकी उपस्थिति अधिक सक्रिय हो जाती है।"

श्रीमाँ

इसके बाद हमारा हृदय सहज ही अपने श्री गुरु की ओर अभिमुख हो उठता हैं और मानों उसकी गहराइयों में श्रीअरविन्द की पंक्तियाँ गूँज उठती है, जब वे बताते हैं कि 15 अगस्त के प्रति क्या हो हमारा मनोभाव-

'किसी ने मुझसे कहा कि १५ अगस्त के दर्शन में सिर्फ दस दिन रह गये हैं। मैंने उत्तर में कहा कि प्रत्येक दिन हमें १५ अगस्त के दिवस के रूप में ही मनाना चाहिये। यह सही मनोभाव है। प्रत्येक दिवस को इस रूप में लेना चाहिये कि हो सकता है आज ही अवतरण हो जाये या उच्चतर चेतना के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाये। तब स्वयं १५ अगस्त अधिक सफल और सम्पन्न हो जायेगा।

रही बात १५ अगस्त की, हां, इस पर बहुत जोर मत दो, आखिरकार, यह व्यक्तिगत की अपेक्षा अधिक व्यापक पर्व है- किसी व्यक्ति के लिए साल का कोई भी दिन १५ अगस्त हो सकता है यानी अपनी आन्तरिक सत्ता की किसी भी वस्तु का जन्म-दिवस हो सकता है। सचमुच इसी मनोभाव के साथ व्यक्ति को साधना करनी चाहिये।'

- श्रीअरविन्द

सचमुच श्रीमाँ और श्रीअरविन्द के द्वारा हमें जो मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ है वह अपनी अन्तरतम गहराइयों में उतरने और पूर्ण एकाग्रता के साथ ही दृष्टिगोचर हो सकता हैं। ध्यान रहे कि बाह्य भौतिक वातावरण की चहल-पहल, हर्षोल्लास की धमा-चौकड़ी कहीं हमें मार्ग से भटका न दे, क्योंकि-

'श्रीअरविन्द के आशीर्वाद का आनन्द पाने के बाद, ज्यादा अच्छा यह है कि एकाग्र रहा जाये और औरों के साथ घुल-मिल कर बातें करते हुए अपना हर्ष फेंक देने की जगह उसे अपने अन्दर ताले चाबी में बन्द करके रखा जाये।'

-श्रीमाँ

'श्रीअरविन्द कर्मधारा' जिसका उद्गम ही श्रीमाँ की प्रेरणा और आदेश के फलस्वरूप हुआ था, निरंतर गतिशील है और अगस्त मास के इस अंक में उन रचनाओं को लेकर आपके पास आ रही है जिन्हें अगस्त 1972 में प्रकाशित राष्ट्रांक के रुप में श्रीअरविन्द के प्रति समर्पित करते हुए श्रीमाँ को प्रेषित किया गया था और जिसे श्रीमाँ ने अपने दिव्य स्पर्श द्वारा आशीर्वाद प्रदान किया था। उसी दिव्याशीष का स्मरण करते हुए यह पात्रिका श्रीअरविन्द की 150वीं जन्म-जयन्ती के समारोह का आरंभ करती हैं।

आशा है आप भी हमारे इस मनोभाव का स्वागत करते हुए सदा की तरह इसमें शमिल होंगे। पात्रिका के लिए हमें आपकी रचनाओं (लेख-कविताओं) की प्रतीक्षा है।

शुभेच्छा और स्नेह के साथ- अपर्णा

कठिनाइयों को जीतने के लिये उनसे दूर भाग जाना कोई समाधान नही है।˙ यह आकर्षक बहुत है, आध्यात्मिक जीवन की खोज करने वालो में कोई˙ चीज़ ऐसी होती है जो कहती है : ओह! किसी वृक्ष के नीचे, बिलकुल अकेले बैठ जाना, ध्यानमग्न बने रहना, बोलने और कार्य करने के किसी प्रलोभन में अबना पड़ना, यह कितना सुन्दर होगा। इसका कारण यह होता है कि इस भावना में एक बहुत सबल रचना होती है, किन्तु होती है वह बड़ी ही भ्रमात्मक। सर्वोत्मक ध्यान वह होता है जो अकस्मात् तुम्हेंप्राप्त होता है, क्योंकि वह तुम्हें एक अनिवार्य आवश्यकता की नाईं धर दबाता है ।

श्रीमाँ

हे अरविन्द, रवीन्द्र का नमस्कार लो!

অরবিংদ, রবীংদ্রের লহো নমস্কার !

तब, जबकि श्रीअरविन्द का आध्यात्मिक स्वरूप ठीक से प्रस्फुटित भी नहीं हुआ था, दूरद्रष्टा कवीन्द्र रवीन्द्र ने श्रीअरविन्द के महा महत्व को पहचान लिया था। उन्होंने उनके महनीय व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करते हुए 'नमस्कार' नामक जो सुविख्यात कविता लिखी थी वह इस बात का प्रमाण है। नीचे उसे बंगला से देवनागरी लिपि में तथा उसका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है, ताकि पाठक कविता के मूल सौंदर्य के साथ-साथ अर्थ भी ग्रहण कर लें ।

-सम्पादक

हे श्रीअरविन्द! रवीन्द्र का नमस्कार स्वीकार करो!
हे बन्धु, हे देश बन्धु
तुम देशात्मा की वाणी-मूर्ति हो!
तुम्हें न सम्मान की चाह है, न धन की, न किसी कृपा की,
भिक्षा के लिए तुम्हारी आतुर-अंजलि कभी नहीं उठती।
संसार में
सर्व बाधा-विहीन परिपूर्णता की प्राप्ति के लिए
तुम सदा जागृत हो।
यह वही तपस्या है, जिसके लिए
सनातन काल से नर-देव तपोमग्न हैं;
जिसके लिए वज्र-रव से कवियों ने महागीत गाया है
और जिसकी संकट-यात्रा पर महावीर चलते रहे हैं
जिसके सामने आराम लज्जित, नत -मस्तक है
जिसके सामने मृत्यु भय भूल चुकी है
विधाता का वही श्रेष्ठ दान
पूर्ण अधिकार और अकुंठ गाथा से भरकर
सत्य की गौरव-दीप्त प्रदीप्त भाषा में
अखण्ड विश्वास के साथ तुमने देश के लिए मांगा है!
तुम्हारी प्रार्थना
क्या विधाता ने आज सुनी है?
इसीलिए आज जय-शंख तो नहीं बज रहा है?
तुम्हारे दाहिने हाथ में कठोर आदर के साथ दुःख का
दारूण दीप
उन्होंने क्या इसीलिए नहीं कर दिया
जिसकी ज्योति आज जल रही है
और ध्रुवतारा के सदृश्य
देश में व्याप्त अन्धकार को बिद्ध कर रही है?
तुम्हारी जय हो, जय हो!
आज कौन आँसू बहायेगा? कौन भय-कातर बनेगा?
अपनी रक्षा के लिए कौन कापुरुष
सत्य को खण्डित करेगा?

অরবিংদ, রবীংদ্রের লহো নমস্কার !
হেবংধু, হে দেশবংধু, স্বদেশ–আত্মার
বাণী-মূর্তি তুমি! তোমা লাগি নহে মান,
নহে ধন, নহে সুখ; কোনো ক্ষুদ্র দান
চাহো নাই, কোনো ক্ষুদ্র কৃপা; ভিক্ষা লাগি
বাড়াওনি আতুর অংজলি। আচ্ছো জাগি
পরিপূর্ণতার তরে সর্ববাধাহীন,
জার লাগি নর-দেব চিররাত্রিদিন
তপোমগ্ন; জার লাগি কবি বজ্ররবে
গেয়েছেন মহাগীত, মহাবীর সবে
গিয়েছেন সংকটযাত্রায়; জার কাছে
আরাম লজ্জিত শির নত করিয়াছে;
মৃত্যু ভূলিয়াছে ভয়; সেই বিধাতার
শ্রেষ্ঠ দান-আপনার পূর্ণ অধিকার
চেয়েছো দেশের হয়ে অকুংঠ আশায়,
সত্যের গৌরববৃপ্ত প্রদীপ্ত ভাষায়,
অখংড বিশ্বাসে। তোমার প্রার্থনা আজি
বিধাতা কি সুনেছেন? তাদ উঠে বাজি
জয়শংখ তাঁর? তোমার দক্ষিণ করে
তাই কি দিলেন আজি কঠোর আদরে
দুঃখের দারুণ দীপ, আলোক জাহার
জ্বলিয়াছে, বিদ্ধ করি দেশের আঁধার
ধ্রুবতারকার মত? জয়, তব জয়!
কে আজি ফেলিবে অশ্রু, কে করিবে ভয়,
সত্যেরে করিবে খর্ব কোন কাপুরুষ
নিজেরে করিতে রক্ষা! কোন্ অমানুষ
তোমার বেদনা হোতে না পাইবে বল!
মোছ রে, দুর্বল চক্ষু, মোছ্ অশ্রুজল!

कौन अमानुष तुम्हारी वेदना से बल नहीं पायेगा
रे दुर्बल-चक्षु! जितना आँसू बहाना है बहा ले!

देवता का दीप हाथ में लिए हुए
जो रुद्र-रूप संसार में आया है,
भला बोल, कौन राजा उसको नियन्त्रण में रखेगा?
बन्धन-शृंखला तो उसके चरणों की वन्दना करती है,
नमस्कार करती है।
कारागार उसकी अभ्यर्थना करता है!
रुष्ट राहू विधाता के सूर्य के लिए
अपनी बाँहों को फैलाकर मुहूर्त भर में
खुद छाया की तरह विलुप्त हो जाता है
तब दमन?
दमन तो उसी का होता है जो अपने ही बनाये हुए
मिथ्या-प्राचीर के कपट-वेष्ठ से बाहर नहीं जा सकता
जो कापुरुष स्वाधीन और निर्भय होकर धर्म के लिए
अन्याय को अन्याय बोलने से घबराता है
जो निर्लज्ज, विधाता प्रदत्त नित्य-अधिकार
मनुष्यत्व को ही
भयवश सभा के बीच अस्वीकार कर देता है
जिसे दुर्गति का ही अहंकार है,
देश की दुर्दशा का ही जो व्यापार किया करता है,
जो अकल्याण और मातृ-रक्त से ही
अपने को पोषता है, वही भीरु
राज्य-कारागार से बाहर होकर भी
नित्य-कारागार में लांछित, दण्डित और बन्द है।

देवतार दोपहस्ते जे आसिल भवे,
सेइ रुद्रदूते, बलो, कोन् राजा कबे
पारे शास्ति दिते! बंधन श्रृखल तार
चरणवंदना करि करे नमस्कार --
कारागार करे अभ्यर्थना। रुष्ट राहु
विधातार सूर्यपाने बाड़ाइया बाहु
आपनि विलुप्त हय मुहूर्त्तक परे
छायार मतन। शास्ति! शास्ति तारि तरे,
जे पारे ना शास्तिभये हइते बाहिर
लंधिया निजेर गड़ा मिथ्यार प्राचीर,
कपट वेष्टन; जे नपुंस कोनो दिन
चाहिया धर्मेर पाने निर्भीक स्वाधीन
अन्यायेरे बलेनि अन्याय; आपनार
मनुष्यत्व, विधिदत्त नित्य अधिकार --
जे निर्लज्ज भये लोभे करे अस्वीकार
सभामाझे, दुर्गतिर करे अहंकार;
देशेर दुर्दशा लये जार व्यवसाय,
अन्न जार अकल्याण, मातृरक्त प्राय:,
सेइ भीरू नतशिर चिरशास्तिभारे
राजकारा बाहिरेते नित्य-कारागारे।

बन्धन, पीड़न, दुःख और असम्मान के बीच
तुम्हारी मूर्ति देखकर हमारे कानों में
आत्मा का बन्धनहीन आनन्द का गान मुखरित हो रहा है।
वह संगीत महातीर्थ-यात्रियों का संगीत बज रहा है।
चिरजीवी आशा का उल्लास
उदार मृत्यु की गम्भीर वाणी हमारे कानों में झंकृत है
तुम्हारे मुख पर अपनी ही दृष्टि अटकाकर
हे कवि! भारत की वीणापाणि अपनी वीणा के तार में
विपुल झंकार भर रही है
उसमें शोक, क्षुद्र लज्जा, दैन्य, त्रास की कोई बात नहीं है
उसी को आज सुनकर कहीं से झंझा के साथ
सिंधु का गर्जन, अन्ध वेग से निर्भर का उन्मत्त नर्तन
पाषाण-पिंजर तोड़कर वज्र गर्जन से
मेघ-पुंज गम्भीर रव में भैरव जगा रहा है!
इस उदात्त संगीत-तरंग के बीच
हे श्रीअरविन्द! रवीन्द्र का नमस्कार स्वीकार करो!

बंधन पीड़न दुःख असम्मान माझे
हेरिया तोमार मूर्त्ति, कर्णे मोर बाजे
आत्मार बंधनहीन आनन्देर गान,
महातीर्थयात्रीर संगीत, चिरप्राण
आशार उल्लास, गंभीर निर्भय वाणी
उदार मृत्युर। भारतेर वीणापाणि,
हे कवि। तोमार मुखे राखि दृष्टि ताँर
तारे तारे दियेछेन विपुल झंकार,-
नाहि ताहे दुःखतान, नाहि क्षुद्र लाज,
नाहि दैन्य, नाहि त्रास! ताइसुनि आज
कोथा हते झंझासाये सिन्धुर गर्जन,
अंधवेगे निर्झरेर उन्मत्त नर्तन
पाषाणपिंजर टूटि, -वज्रगर्जरव
भेर-मंद्रे मेघपुञ्ज जागाय भैरव।
ऐ उदात्त संगीतेर तरंगमाझार,
अरविन्द, रवींद्रेर लहो नमस्कार!

इसके बाद हम उन्हें नमन करते हैं
जो क्रीड़ा के उल्लास में प्रलयाग्नि के बीच
नयी सृष्टि रचते हैं;
मृत्यु से प्राण की रचना करते हैं,
विपद बीच सम्पत्ति का पालन करते हैं
जो हंसते-हँसते
भक्तों के कंटक-वन में शत्रुओं के बीच रिक्तहस्त
रात्रि के अन्धकार में लड़ने को भेज देते हैं;
जो इतिहास के भिन्न-भिन्न कण्ठों में
सभी महत् कर्मों में, परम प्रयासों में, सभी चरम लाभ में
इसका घोष कर रहे हैं-
"दुःख कुछ नहीं है, क्षत् मिथ्या है, क्षति मिथ्या है,
सभी भय मिथ्या हैं!
मिथ्या राजा कहाँ है? उसका राजदण्ड कहाँ है?
मृत्यु कहाँ है? अन्याय, अत्याचार कहाँ है?
अरे भीरु! सिर उठाकर देख,
केवल मैं हूँ, तू है और असीम सत्य है !"

तार परे ताँरे नमि, जिनि क्रीडाच्छले
गड़ेन नूतन सृष्टि प्रलय-अनले,
मृत्यु हते देन प्राण, विपदेर बुके
संपदेरे करेन लालन, हासिमुखे
भक्तेरे पाठाये देन कंटक-कांतारे
रिक्तहस्ते शत्रुमाझे रात्रि-अंधकारे।
जिनि नाना कंठे कन नाना इतिहासे,
सकल महत् कर्मे, परम प्रयासे,
सकल चरम लाभे- "दुःख किछु नय,
क्षत मिथ्या, क्षति मिथ्या, मिथ्या सर्व भय;
कोथा मिथ्या राजा, कोथा राजदण्ड तार
कोथा मृत्यु, अन्यायेर कोथा अत्याचार।
ओरे भीरु, ओरे मूढ़, तोलो तोलो शिर,
आमि आछि, तुमि आछो, सत्यआछे स्थिर!"

-रवीन्द्रनाथ ठाकुर

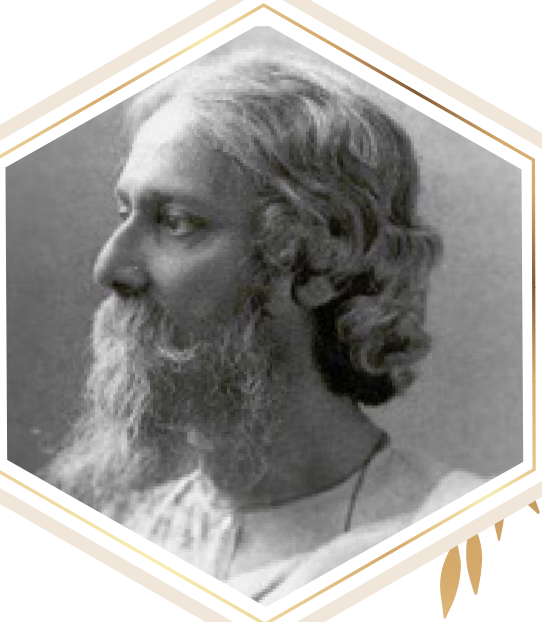

भारतीय राजनीति (राष्ट्रनीति) की आवश्यकता

श्री डी. पी, गुप्ता

कहा जाता है कि मानव-जीवन की सभी समस्याओं का समाधान मनुष्य के भीतर है। बाह्य जीवन की सारी विविधताओं, जटिलताओं की जड़ें भीतर ही छिपी रहती हैं। मनुष्य के सुख-दुख का कारण उसका आन्तर मनोभाव, उसकी मनोवृत्ति होता है; बाहरी परिस्थितियाँ वास्तविक कारण नहीं होतीं, लगती हैं। प्राय: बाहरी झंझटों, झगड़ों का कारण हम बाहर ही देखते हैं और बाहरी साधनों के द्वारा ही उनका समाधान करना चाहते हैं; किन्तु यह तो ठीक वैसा ही हुआ जैसा कि किसी सूखे वृक्ष को फिर से हरा करने के लिए उसके पत्तों पर पानी छिड़का जाए। निश्चय ही यह कार्य वृक्ष को कभी भी पुन:जीवित नहीं कर सकता। उसे जीवित करने के लिए गहराई में जाना होगा और उसकी जड़ की जाँच करनी होगी। कोई भी स्थूल वस्तु या कार्य किसी आन्तर क्रिया का परिणाम मात्र है। अत: उसके विश्लेषण के लिए, बाहरी सफलता या विफलता के कारणों की परीक्षा के लिए उसके नेपथ्य में जाना होगा जहाँ से बाहर की सारी गतिविधियाँ संचालित होती हैं।

यह दृष्टिकोण जो उद्गम की दृष्टि से मूलत: भारतीय है और अब जो शाश्वत सिद्ध हो चुका है- व्यक्तिगत जीवन के उलझावों को सुलझाने के लिए जितना कारगर है, सामाजिक संस्थानों, इकाइयों, जातियों, समुदायों और राष्ट्रों के समुचित विकास के लिए भी यह उतना ही सत्य और अचूक है। कोई जाति, समुदाय या देश यदि वह अपने भीतर झाँक कर देखने का सामर्थ्य नहीं रखता तो वह कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकता। भीतर देखने से ही अपने छिपे वैभव को कोई जान सकता है और आवश्यकतानुकूल उसे राष्ट्र-हित में प्रयुक्त या उपयुक्त कर सकता है। यदि भीतर पैठ अपने गुणों-अवगुणों को नहीं जान सके तो न तो गुणों का सही उपयोग ही किया जा सकता है और न ही अवगुणों से मुक्त होने का सही प्रयास ही। जिस प्रकार व्यक्ति अपनी कठिनाइयों का समाधान जब तक बाहर ढूँढ़ता रहेगा और निराश होता रहेगा, उसी प्रकार कोई समुदाय या देश भी अपनी समस्याओं का समाधान बाहरी देशों का अनुकरण कर, सिर्फ उनके साथ सम्पर्क पर निर्भर होकर, उनकी सहायता के लिए मुहताज होकर नहीं कर सकता। विकासशील समुदाय, जाति या देश को चाहिऐ कि वह पहले अपनी प्रकृति और स्वभाव की पहचान करे, अपनी सहजता, विशिष्टता और विफलता का विश्लेषण करे। अपनी विशिष्टता को तो वह विश्व के समक्ष एक 'आदर्श प्रदर्शन' के रुप में रखकर उसे मुग्ध कर ले और उसके बल पर अपनी आवश्यकता के अनुसार अन्य देशों के साथ अपना सम्बन्ध-सम्पर्क ठीक करे।

अमेरिका और सोवियत रूस इस नीति के ज्वलन्त उदाहरण हैं और उनकी वर्तमान सफलता के पीछे यही रहस्य भी है। हर जाति या देश की अपनी संस्कृति होती है, एक स्वाभाविक विशिष्टता होती है। उसको पहचान लेना और उसको आगे बढ़ाने का प्रयास करना ही विकास की कुन्जी-विधि है। दक्षता और अपूर्व कार्य-क्षमता अमेरिका का वैशिष्ट्य है और उसी वैशिष्ट्य को वहाँ के राजनीतिज्ञों ने संसार के समक्ष रख कर अपने सारे स्वार्थों और महात्वाकांक्षाओं की सिद्धि की है । सोवियत रुस ने भी अपनी स्वाभाविक देन-समता को पहचाना है और उसे चमत्कार और हौवा बनाकर अपनी सारी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए वह उसका उपयोग कर रहा है। आज अमेरिका और रुस से सारा विश्व चमत्कृत है और उसकी सफलता, उसकी मुखियागिरी का गुर लेने के लिए हर देश उसकी खुशामद करना अपना धर्म समझता है। हम भी इसके अपवाद नहीं हैं।

यदि हम भी अपनी मिट्टी के सहज धर्म के प्रति सजग हो पाते तो शायद हमारा स्थान इनसे भी ऊपर होता; क्योंकि सहज गुण के रुप में जो वैभव हमारी जाति और संस्कृति को मिला है, वह ऐसा प्रकाश है जो जीवन के सारे कोहरों को छाँटता हुआ कोने-कोने में किरण बिखेर देता है। यह वह चाभी है जो जीवन महल के सारे रहस्यमय अनजाने कोषों-कक्षों को खोलकर हमें अनन्त वैभव प्रदान कर रही है। ईश्वर ने हमारी जाति को सहज रुप में विश्व का सारा ज्ञान-योग और आध्यात्मिकता दी है। यही वह प्रकाश है जो जीवन को सही दिशा बताता है। यही वह ज्योति है जिसके बिना जीवन की सारी सिद्धियाँ, विज्ञान का सारा वैभव भटक रहा है। यह शरीर की आँख है जिसके बिना सुन्दर–से-सुन्दर शरीर व्यर्थ है। जीवन रहस्य का ज्ञान, जगत का ज्ञान, जीवन से परे जीवन का ज्ञान और अन्तत: ईश्वर का ज्ञान-यह हमारे देश की मज्जा को विरासत में मिला है। हमारे उपनिषद, हमारे वेद, पुराण, गीता, महाभारत-ये ऐसे कोष हैं जिनका यदि हम ठीक से मूल्यांकन करें, उनका सही अर्थ समझें, जीवन में उतारें तो उनके एक-एक अक्षर पर करोड़ डॉलरों की भेंट आ सकती है और सारा संसार हमारी उँगलियों के इशारे पर नाच सकता है, लेकिन दुर्भाग्य है कि अभी तक हम ऐसे राजकुँवर की तरह दर-दर भीख माँग रहे हैं जो विक्षिप्त होने के कारण अपनी तिजोरी का माल भूल बैठा है। आश्चर्य है कि जिन पर समुदाय जाति और देश का भाग्य और भविष्य निर्भर करता है,वे इस ओर कभी चिन्तन भी नहीं कर पाते। आश्चर्य तो और तब होता है जब आँखों के सामने घटनाएँ नग्न होकर आती हैं और हम अन्धे बने बैठे रहते हैं अथवा हमारा ध्यान सूखे पेड़ के पत्तों पर पानी छिड़कने के प्रयास की ओर रहता है या रहे सहे पत्तों को भी चबाने की ओर।

जिस देश का जो सहज गुण हो-उसमें प्रवीणता किसी जाति या देश के प्रतिनिधि की पहली और आखिरी शर्त होनी चाहिये। जिस प्रकार अमेरिका का राष्ट्रपति महामूर्ख होकर वहाँ की प्रवीणता, दक्षता, कार्य-क्षमता का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और जिस प्रकार सोवियत रुस पूँजी पति रहकर वहाँ के मोटो-'समता' का दावा नहीं कर सकता; उसी प्रकार कोई सांसारिक, भोगी-विलासी, चरित्रहीन, भारत जैसे महान देश का सच्चा प्रतिनिधि कहलाने का आधिकारी नहीं हो सकता। और यदि वह योगी न भी हो, संन्यासी न भी हो, त्यागी न भी हो तो कम-से-कम यहाँ के आदर्श और सहज गुण के प्रति उसकी सच्ची आस्था अवश्य होनी चाहिये नहीं तो वह अपने प्रतिनिधित्व के प्रति सत्यनिष्ठ नहीं रह सकता। और जब इतना हो तो ऐसे व्यक्ति को उस आदर्श के प्रति आस्था के प्रकाश में देश की समस्याओं का वास्तविक समाधान ढूँढने में बहुत सहायता मिलेगी।

दुःख और निराशा का विषय है कि अब तक हमारे देश में ऐसे जनसेवकों और प्रतिनिधियों का नितान्त अभाव है। आज तक किसी सत्ताधारी राजनीतिज्ञ ने अपनी संस्कृति और स्वधर्म के प्रकाश में देश की समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का प्रयास नहीं किया। यही कारण है कि वे अपनी समस्याओं के समाधान के लिए दूसरे देशों की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करते हैं, वहाँ के विज्ञान की पुस्तकों में इसका उपाय ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं। जिस प्रकार सूखे पत्तों पर पानी डालने से वे हरे नहीं हो सकते, उसी प्रकार दूसरे देशों के साहित्य में हमारी समस्या का समाधान कभी नहीं मिल सकता। जरूरत इस बात की है कि हमारे नेता अपनी संस्कृति का अध्ययन करें; वेद , उपनिषद्, गीता, महाभारत का मनन करें और उन्हें जीवन में उतारें ।

भारतीय संस्कृति के अभाव में ही आज की राजनीति घटिया दर्जे की हो गयी है। जो राजनीतिक परम्परा की श्रृंखला तिलक, लाला लाजपत राय और गांधी ने बनायी थी, वह बिखर कर रह गयी है और राजनीति निम्न महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का मंच मात्र बन गयी है। यही कारण है कि जो घटना भारतीय संस्कृति की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हो सकती है - इन 'नेताओं' की दृष्टि में उनका कोई अर्थ नहीं होता। उदाहरण के लिए हम डाकुओं के आत्म-समर्पण की घटना ले सकते हैं। आज तक विश्व इतिहास में इतनी क्रांतिकारी घटना कभी नहीं हुई। अहिंसा के सामने हिंसा की इतनी बड़ी हार और स्वेच्छा से समर्पण-यह अपूर्व घटना है। वाल्मीकि डाकू से आदि कवि हो गये किन्तु उन्होंने भी स्वेच्छा से समर्पण नहीं किया। यह कोई साधारण घटना मात्र नहीं है। यह देवी हस्तक्षेप है।

ऐसी घटना सिर्फ भारतवर्ष में ही सहज और सम्भव है। क्योंकि यहाँ का बुरे-से-बुरा व्यक्ति भी अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुनता है, अपनी आत्मा के प्रति सजग रहता है, भले ही थोड़ी देर के लिए अज्ञान के अन्धकार में भटक जाये। ऐसी घटना को अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता मिलनी चाहिये थी ;लेकिन ऐसा नहीं हुआ क्योंकि हमारे राजनीतिज्ञों की दृष्टि में इसका कोई महत्व नहीं था। यह महज एक राज्य या कुछ राज्यों की समस्या समझी गयी जबकि यह अन्तर में मानव मात्र की समस्या का समाधान छिपाये है। डाका अपराध का स्थूलतम और क्रूरतम रूप होता है। जब स्थूलतम रूप ही ढहने लगे, इसका अर्थ यह हुआ कि अपराध की भावना को मानसिक और प्राणिक स्तरों पर विजित किया जा चुका है। यह किसी भी जाति या देश के लिए महानतम गौरव और गरिमा का अवसर है जब एक साथ सैकड़ों खूनी, डाकू स्वेच्छा और अन्तःप्रेरणा से एक निहत्थे व्यक्ति के सामने अपने हथियार डाल दें।

हमारा देश तपोवन की भूमि है। तपोवन-जहाँ ऋषि तपस्या करते थे, बाघ और गाय एक ही घाट पर पानी पीती थी।तप के प्रभाव से बाघ की हिंसक भावना शान्त हो जाती थी और गाय भी योग के प्रभाव के कारण भय की भावना से मुक्त हो जाती थी। डाकुओं का यह समर्पण भी हमारी परम्परा के अनुकूल है। ऐसे अवसरों पर देश के सभी नेताओं को उपस्थित रहना चाहिये था और पत्रकारों को खास हिदायत होनी चाहिये थी कि इस घटना को सांस्कृतिक प्रकाश में ऐसे उभारें और उपस्थित करें कि दूसरे देशवालों के समक्ष एक आदर्श उपस्थित हो और हमारी सांस्कृतिक महत्ता बढ़े। संस्कृति राजनीति को मोड़ देती है। बुद्ध के प्रभाव ने आज ढाई हजार वर्षों के बाद भी हमें कितने ही देशों के साथ एक कर रखा है, जिस पर आज भी हमारासिर गर्व से उठ जाता है।

लेकिन यह सब कुछ न हो सका। डाकुओं की आस्था यदि थोड़ी बहुत दिखाई पड़ी तो वह सिर्फ श्री विनोबा और श्री जयप्रकाश नारायणके सन्त व्यक्तित्व में। फिर भी यह कैसी विडम्बना है कि जयप्रकाश बाबू को ऐसे अवसरों पर राजनीतिज्ञों की मूर्खता के कारण क्षुब्ध होना पड़ा।

इस घटना को पत्रकारों ने भी उतना महत्व नहीं दिया जितना दिया जाना चाहिये था। इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से इतनी महान घटना राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकी और यह राजनीति में उलझे हमारे नेताओं का ध्यान आकृष्ट करने में सफल नहीं हो सकी।

किसी की उक्ति बरबस याद हो आती है जो स्वाधीनता के पूर्व के नेताओं के विषय में कही गयी थी 'देश का नेतृत्व यदि अन्धों के हाथ में नहीं तो कानों के हाथ में अवश्य है।' किन्तु आज की स्थिति देखकर तो यही कहना पड़ता है कि देश का नेतृत्व अन्धों के ही हाथ में है।

मानव-प्रगति पर विभिन्न मत और श्रीअरविन्द

माधव पंडित

अध्ययन और गवेषणा का एक आकर्षक विषय है-सामाज में मनुष्य का विकास। विचारकों ने इस विषय को विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से देखा है और युगों से निरंतर जारी सामाजिक विकास के बारे में अपना-अपना मत व्यक्त किया है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने अपने समय की प्रवाहमान विचारधारा को ध्यान में रखते हुए इन विभिन्न मतों में से कुछ अधिक महात्वपूर्ण मतों की सामान्य रुप-रेखा दर्शायी है और श्राअरविन्द-दर्शन के प्रकाश में उनका मूल्यांकन किया है।

-सम्पादक

विश्व-जीवन में हम एक चीज यह देखते हैं कि बारी-बारी से विश्राम और क्रियाशीलता की, गति और गति के विराम की लहर आया करती है। मानव-सभ्यताओं के प्रसंग मे इस चीज की विवेचना करते हुए प्रो. तोयनबी चीनी कल्पना की 'यिन' (Yin) और 'यांग' (Yang) की मनोरंजक धारणा की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। 'यिन' है गतिहीन और 'यांग' है गतिवान। 'यिन' के लिए जो चीनी चित्र–वर्ण आता है उसका रुप काले कुंडलित मेघों को दिखाता मालूम होता है जो सूर्य को छिपाये होते हैं और यांग के लिए जो चित्र-वर्ण आता है उसका रुप मेघहीन सूर्य मंडल को दिखाता मालूम होता है जो अपनी किरणें फैलाता रहता है। चीन के सिद्धान्त में 'यिन' की बात बराबर सबसे पहले आती है। और यह बात हमारी पूर्वीय परम्परा से एकदम मिलती–जुलती है जो सदैव यह मानती रही है कि क्रियाशील विश्राम की एक पूर्ववर्तिनी स्थिति के बाद और उसके फलस्वरुप आनेवाले चीज है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का जन्म शेषनाग पर लेटे हुए विष्णु से होता है और उन्हीं के सहारे पर वह निर्भर करते हैं। शिव के निश्चल शरीर पर ही सृजनी क्रियाशक्ति-काली, अपना नृत्य करती है। विश्राम की स्थिति से बाहर निकलती हुई क्रियाशीलता फिर विश्राम की स्थिति से पड़ रुक जाने को बाध्य रहती है, यद्यपि वह रुकती है गति की किसी और यात्रा पर आगे चल पड़ने के लिए ही।

गतिहीन 'यिन' और गतिवान 'यांग' के बीच झूलते जाने की यह प्रमुख विशेषता हम विश्व में प्रकट होनेवाली सारी चीजों में पाते हैं। अपने अन्दर और बाहर के जीवन को अपने अधिकार में लेने और उस पर शासन करने के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता रहा है (साधारणत: इसे ही हम सभ्यता का नाम देते हैं) उनमें यह चीज खास करके दीखती है। मानव-समाजों द्वारा किये गये ऐसे प्रत्यनों की संख्या तो जान ली गयी है, लेकिन कम या अधिक समरुपता से ये सब-के-सब 'यिन' और 'यांग'के शाश्वत नियमों के अधीन रहे हैं। पद्धति वही एकसी रही है। अपनी आदिम अवस्था में संतुष्ट पड़ा हुआ कोई समाज किसी कठिनाई का सामना करने के लिए अपनी 'यिन' स्थिति से बाहर निकल आने की उत्तेजना पाता है, यह कठिनाई प्रकृति की दी गयी चुनौती होती है और इसका सामना करने में, इसका क्रियात्मक प्रत्युत्तर देने में वह समाज'यांग' स्थिति में प्रवेश कर जाता है और उसके विकास का काल प्रारम्भ होता है। उस चुनौती के प्रत्युत्तर देने के दौरान में ही एक और चुनौती पड़ जाती है, इससे फिर उत्तेजना मिलती है और इस प्रकार गाड़ी आगे चलती जाती है। जब तक वह समाज इन चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक नहीं कर लेता तब तक वह विकसित होता जाता है, लेकिन जिस क्षण ही वह अलसा जाता है, 'यांग' स्थिति का अन्त आरम्भ हो जाता है और वह समाज फिर से 'यिन' स्थिति में जा पड़ने लगता है। लेकिन यह मान लेना गलत होगा कि सारे मानव-समाज बस वही एक गति यन्त्रवत् बार-बार दुहराने में लगे होते हैं। पहिया अपनी ही धुरी के चारोंओर बिना थके बार-बार चक्कर काटता रहता है, यह सच है। लेकिन चक्कर काटने में वह आगे भी तो बढ़ता है। और सामूहिक दृष्टि सेदेखने पर मानव-समाज की गति में आगे बढ़ने की चाल अवश्य दीखती हैं। यह प्रगति किस दिशा में हो रही है? भूतकाल की सभ्याताओं का हम निष्पक्ष अध्ययन करें तो क्या उनकी जीवन-गति को प्रभावित करने वाले निर्णायक कारणों के विषय में हमें कोई भी संकेत मिलता है?

मानव-समाज की गति को प्रभावित और शासित करनेवाला और उसे गढ़नेवाला मुख्य या प्रधान कारण क्या रहा है, इसका पता पाने के लिए इतिहास के गम्भीर विद्यार्थियों ने आदि काल से, जबसे इतिहास मिलता है तब से लेकर मानव-समाज के उत्थान और पतन की इस विशाल गाथा का अध्ययन करने के पद्धतिबद्ध प्रयत्न किये हैं। एक है इतिहास की धार्मिक व्याख्या। इस मत के अनुसार इतिहास ईश्वर की इच्छा का नाटक है। सारी घटनायें ईश्वर की निश्चित की हुई होती हैं। और चूँकि इस विचार को सुव्यवस्थित रूप में यूरोप में दिया गया, यह अनिवार्य था कि यह मत ईसामसीह के चारों ओर बुना जाता। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में कहा गया है-'इसके आदिम समर्थकों ने दिखलाना चाहा कि ईसामसीह के जीवन के लिए अपनी लम्बी तैयारी में लगकर दुनिया किस प्रकार एक ईश्वरीय योजना के अनुसार चलती रही थी। सारे इतिहास के इस केन्द्रीय तथ्य से यह निर्णय निकलता है कि मानव-जाति युद्ध और कष्टों के बीच चलती जायेगी, जब तक कि कयामत के दिन ईश्वर की योजना पूरी न हो

जाये। राष्ट्रों का भाग्य ईश्वर के हाथ में है। इतिहास ईश्वर की ही बुद्धिमत्ता और शक्ति का प्रकट होना है। ईश्वर चाहे किसी चमत्कार के द्वारा सीधा हस्तक्षेप करें चाहे मात्र अपने विधान को सक्रिय करें, मनुष्यों की नियति के स्वामी वे ही हैं।' बिशोप बोसुए ने इस मत का बहुत विस्तार से अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'विश्व का इतिहास' में निरूपण किया और यह प्रमाणित करना चाहा कि इतिहास को समझने की कुंजी ईश्वर की इच्छा है। लेकिन यह स्वाभाविक ही है कि यह इच्छा

> जीवन की शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओं से ही उनकी सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो जातीं, यद्यपि हमें यह मानना होगा कि अब तक इन आवश्यकताओं ने मनुष्य का ध्यान अनुपात से अधिक अपनी ओर खींच रखा है। भौतिक या शारीरिक सुख, आराम और विश्राम को उसकी अल्पतम मांग जब एक बार पूरी हो जाती है तब वह अपना ध्यान अपने अन्य अंगों की ओर बढ़ाता है और ये अंग हैं उसका भावावेग, उसका हृदय, उसके सौंदर्यबोध और बुद्धि की मांगें, उसका मन और उसकी अन्तरात्मा भी।

खुले तरीके से और शीघ्रता से समझ में आनेवाले ढंग से कार्य नहीं करती; बिशोप बोसुए ने कहा कि वह गौण और प्राकृतिक हेतुओं के द्वारा कार्य करती है और अपने अध्ययन में निर्देशन के लिए हमें इन्ही हेतुओं की ओर मुड़ना है। तर्कों से इस मत को और आगे देखने से यह परिणाम निकलता है कि इतिहास को समझने के लिए किसी अनुपमेय ईश्वर-इच्छा के बदले इन गौण और प्राकृतिक हेतुओं को जानना चाहिए।

भारत में हमें काल-चक्र का मत मिलता है। यह पौराणिक धर्म-तत्वों पर आधारित है और यद्यपि यह ऊपर बताये गये मत से पूरी तरह नहीं मिलता, तथापि इनमें कुछ साम्य तो है। इस परम्परा के अनुसार विश्व की गति पूर्णतया इस पर निर्भर करती है कि वह कौन-सा काल है, कौन-सा युग है। काल-चक्र में चार युग होते हैं और इन चारों के बीच सृष्टि अनवरत चक्कर काट रही है। प्रत्येक युग का अपना-अपना धर्म होता है; जिसे युग-धर्म कहते हैं। इस प्रकार प्रथम युग में जोकि कृतयुग है, मनुष्य पूर्ण रहता है, समाज आदर्श रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने प्रयास, अपनी-अपनी कृति, उपलब्धि और सफलता के सहारे रहता है-कृत। द्वितीय युग है त्रेता। नियमों, विधानों और कर्मकाण्डों का युग। त्रेताका अभिप्राय है त्रेता अग्नि से, जिस अग्नि की पूजा करनी है; यह चीज उस युग के कर्मकाण्डी रूप का प्रतीक है। इसके बाद आता है द्वापर युग; अविश्वास और सन्देह का युग। यह बौद्धिक प्रस्फुटन का परिणाम होता है। द्वापर वह है जिसके पहले दो युग आ चुके हों और साथ-ही-साथ 'द्वापर' सन्देह का पर्यायवाची शब्द भी है। और एक बार जब सन्देह घुस गया, तो फिर पतन रुक नहीं सकता। फिर आता है कलियुग, जबकि धर्म का ह्रास होता है। काल-चक्र का यह अन्तिम युग होता है। इस काल में चीजों की हालत इतनी बिगड़ जाती है कि उनका कोई इलाज नहीं हो सकता और मानव-जाति आँखें मूँदकर उद्दाम वेग से सर्वनाश की ओर भागती है। इस चक्र के अन्त में सृष्टि एक बार फिर प्रथमयुग में जा पहुँचती है और इस प्रकार चक्कर चलता रहता है। यह सब-कुछ काल-चक्र की क्रिया है और जो केन्द्रीय चीज प्रत्येक चीज को शसित करती है वह है युग-धर्म और यह युग-धर्म अन्तिम विश्लेषण में भगवान की इच्छा ही है।

इस प्रकार के मतों की सीमायें स्पष्ट हैं। मानव-व्यक्तित्व को वे बहुत नीचा कर देते हैं और सारा उत्तरदायित्व यहाँ से हटाकर पूर्णतया विश्व से परे की एक सत्ता पर लाद देते हैं। ऐसी दशा में मनुष्य तो विश्ववातीत इच्छा या विधान की क्रियाओं के साथ असहाय होकर बँधा हुआ महत्वहीन जीव ही हो जाता है। इस मत के निरूपण में चाहे जिस किसी भी निगूढ़ परंपरा का समावेश हुआ हो, स्पष्ट ही इसे मानव-समाज के क्रिया-कलापों की युक्तिसंगत व्याख्या के रुप में नहीं माना जाता।

अब हम विचार के लिए जो दूसरा मत ले रहे हैं वह इस प्रश्न की पूरी व्याख्या ईश्वर की इच्छा में नहीं पाता, वरन् ईश्वर की किसी चुनी गयी जाति में पाता है। इस प्रकार की निर्मित जाति का स्वरूप ही सभ्यता का स्वरूप और वैशिष्ट्य निर्धारित करता है। एक ऐसी जाति होती है जो राज्य और शासन करने के लिए प्रकृति द्वारा खासकर रची गयी होती है; अन्य शेष सभी को इसका आधिपत्य स्वीकार कर लेना होगा। जहाँ कहीं भी विधाता की इस योजना को पूरी तरह स्वीकार किया गया है और कार्य में परिणत होने दिया गया है, वहाँ-वहाँ आप अत्यंत उज्जवल परिणाम पायेंगे। पिछली शताब्दी के आरम्भिक काल में एम. कोंते द गोबिनो ने इस मत को बहुत विस्तार से विकसित किया। वह यह मानते थे कि नोर्डिक जाति का मनुष्य (यह जाति उत्तरीय ग्रेट ब्रिटेन और स्केंडिनेविया मे पायी जाती है) विशिष्ट आध्यात्मिक और मानसिक श्रेष्ठता से सज्जित है और सभ्यता की कुंजी उसी के हाथों में है। वह था नीत्शे का 'Blond Beast'-गौर वर्ण, सुस्वस्थ जीव। (नीत्शे का अभिप्राय नोर्डिक जाति से था।) आरम्भिक रोमनों और ग्रीकों के भाग्य का निर्माण करने वाला यह नोर्डिक रक्त ही था। 'श्रेष्ठ जाति' शब्द को विस्तृत कर उसके अन्दर ट्यूटोनिक जातियों को शामिल किया गया जिससे कि शुरू के महान सभ्यता निर्माताओं का उद्भव हुआ था। 'यह मनुष्यों की एक विशिष्ट जाति थी जिसकी विभिन्न शाखाओं ने संसार के प्रत्येक सभ्य प्रदेश पर आधिपत्य जमा रखा है।' उन लोगों का कहना था कि ऐसी जाति द्वारा स्थापित की गयी सभ्यता उच्चतम होती है और जब तक वह जाति अपनी विशुद्धता बनाये रखती है तब तक उस सभ्यता की श्रेष्ठता और सफलता भी बनी रहती है। लेकिन जाति की विशुद्धता में अवनति आने से उस सभ्यता की अवनति और

पतन का प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार की अधोगति को रोकने की दृष्टि से ही मेडिसनग्रांट ने अमेरिका में खतरे का हल्ला मचाया था। उन्होंने कहा था कि अमेरिका में दक्षिणी यूरोपियनों के आने पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये जायें, ताकि अमेरिकन जाति के अन्दर नोर्डिक रक्त का अंश कम न हो जाये और उनकी सभ्यता के गुण तथा श्रेष्ठता का ह्रास न कर दे।

अब, अन्तर्जातीय मिश्रण का परिणाम लाभदायक होता है या हानिकारक, इस प्रश्न के कई उत्तर दिये जा सकते हैं। इतिहास में ऐसे उदाहरण बिखरे पड़े हैं जिनमें हम देखते हैं कि प्राचीन जातियों में नवीन रक्त का समावेश होने पर सभ्यतायें प्रचुर स्फूर्ति से भर उठीं। इसके अतिरिक्त, क्या वास्तव में विशुद्ध जाति जैसी कोई चीज है? हमें भय है-नहीं। एक क्षण के लिए हम यदि यह मान भी लें कि सभ्यता का अर्थ सफेद या नोडिक जाति ही है तो फिर पीली जाति

> किसी सभ्यता या संस्कृति की परीक्षा का मापदण्ड यह होता है कि मनुष्य के अभौतिक अंगों-मानसिक, प्राणिक और अन्तरात्मिक अंगके अनुशीलन और विकास की दिशा में प्रयत्न कर उसने मानव-प्रगति में क्या सहयोग दिया है। मनुष्य मूलत:मनोमय प्राणी है और उसकी गतियों के रहस्य की कुँजी के लिए हमारी खोज सबसे अधिक फलप्रद तब हो सकती है जबकि हम मानसिक-मनोवैज्ञानिक राह के सहारे चलें, जिसे मानवात्माने काल के आरम्भ से निर्धारित कर रखा है।

की देनों के विषय में क्या कहा जाये जिसे प्राचीनतम सभ्यताओं में से होने का श्रेय प्राप्त है? दोनों अमेरिका की लाल जाति के विषय में क्या कहा जाये जिसने कम-से-कम चार महत्वपूर्ण सभ्यताओं को (आंदिअन, मायन, यूकार्तक और मेक्सिक) जन्म दिया है? काली जाति की देनों का कोई ऐतिहासिक उल्लेख हमारे पास नहीं है, लेकिन उनके नृत्य और संगीत में उनकी रीतियों और संस्कृति के जो अवशेष मिलते हैं वे एक अतीत के वैभव की ओर संकेत करते हैं जो कि काल की मिट्टी में दब गया है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ख्याल करने की है कि वातावरण की भिन्नताओं के कारण एक ही जाति-वंश में उत्पन्न लोगों में भिन्नतायें होती हैं।आज के दिन आस्ट्रेलेशिया के महादेश में स्वदेशत्यागी ऐंग्लो सेक्सनों के जो वंशज बसे हुए हैं उनके विषय में ऐसा कदाचित ही कहा जा सकता है कि वे पीढ़ियों से जिस दक्षिणी वातावरण में रहते रहे हैं उससे उनके जातीय गुण अब तक अप्रभावित बच रहे हों। दक्षिणीअफरीका में बसनेवाले डचों और अंगरेजों के जीवन में जो परिवर्तन आये हैं वे इस विषय पर दूसरे उदाहरण हैं।

और अब हम इतिहास की भौगोलिक व्याख्या पर विचार करने पहुँचते हैं जिसका यह दावा है कि समाजों के उत्थान और पतन की समस्या पर सही प्रकाश इसी से पड़ता है । इस मत के विख्यात समर्थक थे मांतेस्क (Montesquieu)। इसके अनुसार प्राकृतिक वातावरण और जलवायु की दशा ही किसी देश के वासियों के स्वयं चरित्र और उनकी प्रकृति को, और फलस्वरूप उनसे निर्मित होनेवाले समाज के रूप को निर्धारित करती हैं ।

अधिक ठण्डी जलवायु में लोग स्फूर्तिशाली और परिश्रमशील होते हैं; अयनान्तवृतों में रहने वालों की शक्ति क्षीण रहती है और आलस्य तथा जड़ता को वे सबसे अच्छी चीज मानते हैं।(उनके लिए अकर्मण्यता सबसे ऊँची कल्पनीय अच्छाई है, अतएव स्वर्ग का एक विशिष्ट गुण माना जाता है अकर्मण्यता!और चूंकि वे बराबर गर्मी से सताये जाया करते हैं, यह गर्मी नरक का प्रमुख गुण मानी जातीहै।) इसलिए ऐसी बात है कि ठण्डे उत्तरी प्रदेशों से आये हुए शक्तिवान आक्रमणकारियों ने ही सारे साम्राज्यों की स्थापना की है। जलवायु की अनुकूलता ने ही तेजस्वी उत्तरी लोगों की जीत का पलड़ा भारी किया है। राज्यों और समाजों की स्थापना में जलवायु के अतिरिक्त बिलकुल ही प्राकृतिक कारणों का भी, जैसे समुद्र-तटों, डेल्टाओं, नदियों आदि का बड़ा हाथ रहता है। भूमध्यसागर के तटों पर कितनी सभ्यताओं का जन्म हुआ है? वृक्षों और उद्भिदों के सूख जाने पर या अधिक उग्र प्राकृतिक उत्पातों के होने पर कितनी अधिक सभ्यतायें पृथ्वीतल से विलुप्त हो गयी हैं?

इस मत के समर्थकों द्वारा रखे गये इन प्रश्नों के उत्तर में इस मत के विरोधी उलटकर एक दूसरा प्रश्न पूछते हैं। क्या पृथ्वी पर सब जगहों में बिलकुल ही भिन्न भिन्न जलवायु में महान जातियाँ प्रकट नहीं हुई हैं? क्या किसी एक प्रकार के वातावरण में हमें क्रियाशीलता की एक ही प्रकार की धाराएँ या, कम-से-कमसदृश्यता रखनेवाली धाराएँ ही मिलती हैं? ऐसा क्यों कि यूरेशिया और अफेशिया के स्टेपीजों में (अर्द्ध-अनुर्वर प्रदेशों को स्टेपीज कहते है) जिस प्रकार की घुमक्कड़ जातियाँ मिलती हैं, उस प्रकार की जातियाँ हमें पश्चिमी लोगों के आ बसने के पहले केउत्तरी अमेरिका के आयरियों, वेनेजुएला के लानोओं और अर्जेण्टिना के पम्पाओं (प्रायरियों, लानोओं और पम्पाओं-उक्त देशों के वृक्षहीन प्रदेशों, स्टेपीजों के नाम हैं) के उसी प्रकार के वातावरण में नहीं मिलतीं? और ये फिर आन्दियन सभ्यता की बात कहते हैं जोकि ऊँचे प्लाटों पर फली-फूली थी, जब कि इसके विरोधाभास में नीचे के अमेजन के वनों में आदिम अवस्था ही वर्तमान थी।प्रश्न किया जाता है- क्या प्लाटो ही वह कारण है जिससे कि आंदिअन समाज अपने जंगली पड़ौसियों से आगे निकल गया? हम इस विचार को मान लें, इसके पहले हमें अपनी नजर अफरीका में भूमध्यरेखा के उन्हीं अक्षांशोंके प्रदेशों की और ले जानी चाहिये जहाँ कांगो वेसिन के जंगलों के किनारे-किनारे पूर्वी अफरीका के पहाड़ी प्रदेश मिलते हैं। तो हम देखेंगे कि अफरीका में सभ्य समाज निर्माण करने की क्षमता किसी बड़ी नयी की उपत्यका के ट्रापिकल

जंगलों की अपेक्षा वहाँ के प्लाटों में कोई अधिक नहीं थी।

हमें इस प्रश्न पर और आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं, केवल इतना ही काफी है कि जलवायु और भौगोलिक कारण, अधिक से अधिक, प्रोत्साहक या प्रतिबन्धकारी भर हो सकते हैं और वह भी तभी तक जब तक कि मनुष्य को अधिकतम लाभ के लिए अपने वातावरण को वशीभूत करने, जीतने और उपयोग करने के लिए यथेष्ट साधन प्राप्त हो जाएँ। यह बात नहीं कही जा सकती कि मानव-समाज के जन्म और विकास में इन चीजों का कोई, निर्णायक या प्रधान हाथ रहता हो।

और तब इतिहास की एक और व्याख्या है, वह है आर्थिक। इस ऐतिहासिक भौतिकवाद या आर्थिक बाध्यतावाद के अनुसार, जिसके महापुजारी हैं कार्ल मार्क्स जिन्होंने इतने विनाशकारी परिणाम से इस मत का प्रचार किया, समाज की प्रगति में मूल आधारगत कारण है आर्थिक। आर्थिक दबाव के कारण ही मानव-जाति ने शिकारी और चरवाहों कीअपनी आदिम अवस्था से निकलकर खेती और हाथ की कारीगरी के युग में प्रवेश किया-और इस परिवर्तन के अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इसके बाद कल-कारखानों और मशीनों का युग आया और इस परिवर्तन को लाने में भी आर्थिक कारणों का हाथ कम नहीं रहा। राजनीतिक,सामाजिक और अन्य इमारतें आर्थिक वास्तविकताओं की ही ठोस नींव पर खड़ी हैं। राष्ट्र लड़ते हैं और मर मिटते हैं, किसी आदर्श और परोपकार के लिए नहीं, बल्कि आर्थिक लाभ और सुविधा के लिए। फ्रांस की क्रांति के नारे 'स्वतन्त्रता, समता और बंधुता' के पीछे यह कठोर बात थी कि फ्रांस में एक नया मध्यम वर्ग उठ खड़ा हुआ था जोकि प्राचीन सामन्त वर्ग के हाथों से प्रभुता और शक्ति छीन लेना चाहता था। किसी समाज की जीवन-अवधि और शक्ति को निर्धारित करनेवाली चीज है उसकी टिके रहने की आर्थिक क्षमता। किसी समय मिस्त्र देश अपने लोहे के कारण शक्तिशाली था, पुराने समय में इग्लैंण्ड शक्तिशाली था अपनी टिन की खानों के कारण। मात्र आर्थिक दबाव और आवश्यकता ही संसार भर के श्रमजीवियों की इतनी विशाल संख्या को एक हो जाने के लिए बाध्य करेगी, और वे श्रमजीवी, वे मजदूर मध्यमवर्ग को उसका कोई भी ख्याल न कर कुचल डालेंगे और एक वर्गहीन, राज्यहीन समाज के एक नूतन उदय के लिए अपना स्वत्व प्रतिष्ठित करेंगे।

यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे विस्फोटक मत के बहुत दृढ़ समर्थक हैं और उतने ही दृढ़ विरोधी भी। इतना कहना काफी है कि आर्थिक कारणों ने मानव जाति के विकास में निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, लेकिन किसी भी तरह इसे एकमात्र निर्णायक कारण नहीं कहा जा सकता। मार्क्स चाहे जो कुछ भी कहे, मनुष्य कोई आर्थिक जन्तु होने से और अधिक बहुत कुछ है, और आखिरकार कई मनुष्यों के एकत्रित होने से ही तो समाज बनते हैं। जीवन की शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओं से ही उनकी सारी आवश्यकताएं पूरी नहीं हो जातीं , यद्यपि हमें यह मानना होगा कि अब तक इन आवश्यकताओं ने मनुष्य का ध्यान अनुपात से अधिक अपनी ओर खींच रखा है। भौतिक या शारीरिक सुख, आराम और विश्राम की उसकी अल्पतम माँग जब एक बार पूरी होजाती है तब वह अपना ध्यान अपने अंगों की और बढ़ाता है और उसके ये अंग हैं उसका भावावेग, उसका हृदय , उसके सौंदर्यबोध और बुद्धि की माँगें, उसका मन और उसकी अन्तरात्मा भी। वास्तव में मनुष्य यह अनुभव करता है कि जब वह आर्थिक आवश्यकताओं और जंजालों से छुटकारा पाया रहता है और उसे अपने अन्य अंगों का स्वच्छन्दता से विकास करने दिया जाता है तब ही वह अपने-आप में अधिक-से-अधिक होता है। अतएव किसी सभ्यता या संस्कृति की परीक्षा का मापदण्ड यह होता है कि मनुष्य के अभौतिक अंगों-मानसिक, प्रणिक और अन्तरात्मिक, के अनुशीलन और विकास की दिशा में प्रयत्न कर उसने मानव-प्रगति में क्या सहयोग दिया है। मनुष्य मूलत: मनोमय प्राणी है और उसकी गतियों के रहस्य की कुंजी के लिए हमारी खोज सबसे अधिक फलप्रद तब हो सकती है जबकि हम मानसिक-मनोवैज्ञनिक राह के सहारे चलें, जिसे मानवात्मा ने काल के आरम्भ से निर्धारित कर रखा है।

हमने जिन मतों की चर्चा की है उन पर इस दृष्टि से विचार करने पर हम उन्हें संकीर्ण सीमाओं और एकांगीपन के दोषी पाते हैं । इनमें से प्रत्येक मत सामाजिक प्रगति के किसी एक (यद्यपि महत्वपूर्ण) अंग की आंशिक प्रक्रियाओं और पद्धतियों की ही व्याख्या करता है। ये मत आंशिक कारणों की, सहायक कारणों की बात कहते हैं न कि निर्णायक चीजों की। ये मत मनुष्य के मन और अन्तरात्मा की क्रियाओं को अपने विचार से हटा केवल उसके भौतिक आधार पर ही जोर देते हैं। उनका ध्यान जमा रहता है, जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं-'बाह्य तथ्यों, नियमों, संस्थाओं, आचारों, रिवाजों, आर्थिक कारणों और विकासों पर, गम्भीरतर मनोवैज्ञानिक तत्वों की बहुत ही अवहेलना की गयी है जो मनुष्य जैसे मनोमय, भावमय और कल्पनाप्रधान प्राणी की क्रियाशीलता में बहुत महत्वपूर्ण होते हैं।'

संसार से निराश होकर तुम भगवान को पकड़ने
के लिए दौड़ते हो! यदि
संसार तुमसे अधिक बलशाली है तो क्या तुम
भगवान को अपने से दुर्बल समझते हो?
तुम उनके आदेश के लिए तथा उसे पूरा करने
की शक्ति प्राप्त करने के लिए उन्हीं की ओर
मुड़ो।

-श्रीअरविन्द

वह जादू जो सर चढ़कर बोले!

विद्यावती कोकिल

भगवान ने सृष्टि की रचना करके जादुओं का वह जादू, चमत्कारों का वह चमत्कार उपस्थित किया है जिसने सबको बौखला दिया है, जो किसी की समझ में नहीं आता। अगर कभी-कदाच किसी की कुछ समझ में भी आया तो वह व्यक्ति कहीं खोकर, कहीं डूबकर रह जाता है शायद मोक्ष में, शायद निर्वाणावस्था में या ऐसे ही किसी सर्वविलोपन में। वह हमसे फिर अपने अनुभव कहने नहीं आता। शायद वह डरता है कि हम तक कहने आने में उसका चमत्कार कहीं लोप न हो जाये, उसका जादू उतर न जाये। उसकी इस भीषण साहसिकता ने दुनिया में एक आशा की किरण जरूर झलकायी है, पर वह ठहर नहीं पाती है और यह संसार, अन्धों की भाँति प्रकाश के होते हुए भी जहाँ था वहीं पड़ा हुआ है। यह प्रकाश उसकी बाँह पकड़कर उसे उस पार नहीं लगा पाया है। इस असमर्थता ने भारत को बुरी तरह निराश किया है। आज उसकी सारी आस्था ही हिल गयी है और भारत में भी नाना प्रकार के अनास्थामय वाद सहसा घुस आये हैं जिन्होंने देश को नाश और प्रलय के कगार पर पहुँचा दिया है। पर ऐसे वादों को-चाहे वह भौतिकवाद हो या साम्यवाद, भारत की आत्मा पचा नहीं पायी है, वह उनका वमन कर देती है। भारत का आधुनिक राजनीतिक इतिहास इसकी साक्षी देगा। फिर भी ये विचार भारत की संस्कृति में यों ही आकर नहीं जुड़ गये हैं। इनका अपना एक औचित्य है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और अनुभवों के फलस्वरुप ही तो इनका जन्म हुआ है।इन्होंने एक अव्यवस्था के पूरे जगत को ही जन्मदे दिया है। आज परिवार में, समाज में, शिक्षा में, कला में, साहित्य और संस्कृति में सभी कुछ उखड़ा-पुखड़ा लग रहा है। सारे पुराने मूल्य चकनाचूर हो गये है। भारत की गति साँप-छछूँदरवाली गति हो गयी है। और ठीक इसी समय, जबकि संसार अपने ही रचे गोरखधन्धे में नष्ट हो जानेवाला था, अन्धकार में उसका दम घुट जानेवाला था और प्रकाश के सूर्य को पूरी तरह से अन्धकार ने ढक लिया था, एक अद्भुत साहसी अग्रदूत ने आकर सबको चमत्कृत कर दिया, जिसने अपनी सारी सत्ता की बलि चढ़ाकर इस बाज़ी को सारी मानव-जाति के लिए जीतकर दिखा दिया, जिसने हमारी अचित् की जननी से, पूरे साहस के साथ डटकर मुकाबला कियाऔर उसके पीछे छिपी हमारी चित् की नींव का उन्मीलन करके युग-युगान्तर से चले आ रहे इस महा अन्तराल को पाट दिया, जिसने सारी मानवता के लिए एक आशा के सेतु की रचना कर दी है। उनका दिया पूर्ण योग ही एकमात्र सब रोगों का उपचार है। यह कोई सदाचारी नैतिक या धार्मिक सुधार का नुस्खा नहीं है। यह तो एक नयी सृष्टि का जन्म है जिसको हमें जीवन में जीना होगा :

जैसे विकास-क्रम में पशु के पीछे
कभी आदिमानव जग में जन्मा था
उसी तरह मानव की अयोग्य अक्षम
मर्त्य चाप के पीछे-पीछे उन्नत
स्वर्गोत्तराधिकारी वह आयेगा
व्यर्थ गये सब श्रम, स्वेद, रक्त, आंसू
के पीछे अपने चरण बढ़ायेगा,
और वही उसको समझेगा जिसको
नश्वर मानव अब तक समझ न पाया,
करेगा वही उस कार्य को कि जिसका
नश्वर हृदय न साहस भी कर पाया।
मनुज-काल की सब क्रम परम्परा का
होकर पूरा उत्ताधिकारी,
बस अपने कन्धों पर सम्भाल लेगा,
भार देवताओं का दुर्भर, भारी।

-'सावित्री'

यह अतिमानव मनुष्य में एक नयी जाति का जन्म है। इसे हम कलि के बाद पुनः एकसत्य युग का उदय कह सकते हैं। श्रीअरविन्द ने सारे अन्धकार को हिलाकर और तोड़-फोड़कर हमें फिर से आधुनिक सत्य के दर्शन कराये हैं, आधुनिक वेद-ज्ञान दिया है, एक अन्तर्दृष्टि दी है। यह एक महत्तर उषा है :

परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम् ।
व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषामृतं कं चन बोधयन्ती ॥
कियात्या यत्समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान् ।
अनुपूर्वाः कृपते वावशानाप्रदीध्याना जोषमन्याभिरेति ॥

ऋग्वेद 1.113.8 10

अर्थात "इसने पिछली सब उषाओं के ध्येय का पालन किया है और आनेवाली उषाओं के क्रम में यह प्रथमा है। यह उषा एक चिर जीवन को लिये हुए आती है और किसी मृत जैसे प्राणी में प्राण फूँक देती है। जब यह उषा पिछली सब उषाओं के साथ और आगे आनेवाली उषाओं के साथ अपना समन्वय उपस्थित करती है तो उसका दृष्टि-विस्तार क्या होता है? वह चाहती है कि पुराने प्रभातों को, जो कुछ वे चाहते थे, उससे परिपूर्ण कर दे और अगले प्रभातों के साथ अपने सम्बन्धों को दृढ़ कर ले।"

आज हम चाहें तो इस उषा के प्रकाश में सारी पुरानी उषाओं के प्रकाश का लेखा ले सकते हैं और अपने भविष्य के कार्य की रूप-रेखा तैयार कर सकते हैं। यह एक असम्भव कार्य सिद्ध हुआ है। ऋषि ही जाने ऋषि की भाषा-श्रीअरविन्द ने 'लाइफ डिवाइन' का प्रारम्भ इसी वेदमन्त्र से किया। यह वेदमन्त्र आज भी हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। यह उषा प्रकाश को अब शाश्वत दिन में परिवर्तित करने ही आयी है। यही इसका सबसे नया उद्देश्य है जो आज तक कभी सम्भव नहीं बन सका। एक प्रकाश, सत्य और शाश्वतता आदिकाल से मानव की अभीप्सा बनकर उसके प्राणों में समायी हुई है। यह जीवन में धुंधला भले गयी हो पर कभी भी गायब नहीं हुई। यही नहीं ऊपर से गायब होकर भी भीतर से दिनों-दिन बढ़ती ही गयी है। यह गायब कैसे हो सकती थी, क्योंकि यह तो मनुष्य की नहीं असल में प्रकृति की अपने आत्मविलोपी पुरुष को पाने के लिए अथक खोज है। वह उसे पाने का जी-तोड़ प्रयत्न कर रही है और मनुष्य तो उसका मात्र माध्यम बना हुआ है। वह उसे प्रत्येक कोने में, प्रत्येकगहराई में, प्रत्येक ऊँचाई में, प्रत्येक नर्क में और प्रत्येक स्वर्ग में ढूंढ़ने का प्रयत्न करती है; क्योंकि वह सारी सम्भावनाओं को, जिनसे भी उसको यहाँ साकार करने में मदद मिलती है उन सबको खाली कर देना चाहती है। अपने इस प्रयत्न में ही नवयुगों का निर्माण करती चलती है। तो फिर इस सनातन अभीप्सा से मानव का पल्ला कहाँ छूट सकता है? चाहे वह जड़वादी बन जाये चाहे आत्मा-परमात्मा को तलाक़ देकर बौद्धधर्मानुयायी बन जाये और चाहे वह साम्यवादी ही क्यों न बन जाये, फिर भी उसे सत्य की, भगवान की और अमरता की खोज किसी न किसी व्याज से, किसी न किसी नाम से करनी ही होगी-बस यही होता आता है। श्रीअरविन्द - 'लाइफ डिवाइन' के खुलते ही कहते हैं: 'मनुष्य के प्रबुद्ध विचारों में उसके आदिम अतीत की पहली अभीप्सा ही उसकी एक अनिवार्य और अन्तिमतम अभीप्सा प्रतीत होती है, क्योंकि यह दृढ़ अभीप्सा युग-युगान्तरों में होती हुई एक अविच्छिन्न रुप से प्रवाहित होती है। यह सारे सन्देहों के पर्वतों को लाँघती चली जाती है और नाना बन्धनों को सहकर भी जीवित बची हुई है। मानव-विचार में इसका स्थान सबसे ऊँचा है। उसके भीतर दिव्य स्वरुप का एक अस्फुट आभास जगता है जो उसे पूर्णता की लगन, विशुद्ध सत्य और अमल-धवल आनन्द तथा अमरत्व के गुह्य बोध के लिए व्याकुल रहता है। मानव-ज्ञान की प्राचीन उषाएँ इस तथ्य की अनवरत साक्षी हैं। आज जबकि बाह्य प्रकृति के ऐश्वर्य-पूर्ण विश्लेषण से मानव की अंजलि भौतिक सम्पन्नता से भर उठी है तब भी उसका हृदय किसी एक अभाव के हाहाकार से व्याकुल है और वह फिर अपनी उन्हीं आदि कामनाओं की ओर लौटने को लालायित है-वही प्राचीनतम सूत्र जिससे उसने प्रारम्भ किया था आज भी उसका सबसे बड़ा सत्य बना है-वह है: प्रकाश चाहिये, ईश्वर चाहिये, स्वतन्त्रता चाहिये, अमरता चाहिये।'

आदिकाल में, या कहें वेद-उपनिषद काल में मानवता जब पहले-पहल प्रबुद्ध हुई थी तब उसने जो पहला किरण-सम्पात अवलोका था जिससे उसका हृदय आनन्दविभोर हो उठा था, यह वही आनन्द था जो सृष्टि की रचना के पीछे एक अग्निल गुलाब की तरह मुस्कराता रहता है। यह स्वयं भगवान के हृदय का आनन्द था। यह आनन्द, यह प्रकाश की किरण ज्यों-ज्यों मानव-सभ्यता विकसित होती गयी है, तिरोहित होतीलगती है। दर्शनकार या नीतिकार कह सकते हैं कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग बराबर ह्रासोन्मुख जीवन-काल है। पर बात एकदम ऐसी नहीं है। श्रीअरविन्द की अध्यात्म-दृष्टि में तथ्य कुछ दूसरी ही तरह है। वही सत्य, जो आदिकाल में अपनी झलक दिखाकर तिरोहित हो गया, लगता है उसे ही मानव-चेतना एक विस्तार से पूरे जीवन में जीने का यत्न करती है। प्रारम्भ में, साहित्य में एक बौद्धिकता का और हृदय की भावप्रवणता का प्रवेश होने लगता है। यह उसी सत्य के नाना पहलुओं को जीवन में प्रवाहित करने के उपाय अपनाती है-कहीं साहित्य और काव्य के ललित माध्यम को अपनाती है और कहीं कला और शिल्प के अनन्त स्वप्नों में उसे साकार करती है। इस प्रकार उसने भाँति-भाँति के कलात्मक चमत्कारों को जन्म दे दिया। यही नहीं, कभी उसने ज्ञान की शुष्क पर अति उच्च धारा भी अपनायी है, जिसके द्वारा शास्त्रों की रचना, व्याकरणों और समाज-विधानों का निर्माण कर डाला है, जिसने सारी कला और साहित्य को प्रामाणिकता और सुरक्षा दी है। पर यह अबाध सर्जनक्रम तरह-तरह से उसी हृदय में छिपी अभीप्सा को व्यक्त करने का पुष्पित, पल्लवित स्वरुप है। जीवन के प्रत्येक स्तर में–मन, प्राण और शरीर में, जीवन के प्रत्येक बहिष्कृत और निराहत कोने में,जीवन को प्रत्येक निचाइयों और ऊँचाइयों में वह सत्य को जगा लेने के लिए अथक रूप से पैंगें भरती है। यह एक ऐसा अनवरत संगीत है जिसमें हम सारे विरोधी स्वरों पर तानें लगाकर भी फिर अपने वादी स्वर और ठेके में लौट आते हैं। वह वादी स्वर इस प्रकार है: 'भारत का केन्द्रीय विचार यह है कि एक सनातन सत्ता है, एक परम आत्मा है जो यहाँ जड़ में आच्छन्न और रुद्ध है, अन्तर्यामी रूप से इसके भीतर सदा विद्यमान है। भौतिक स्तर पर वह व्यक्ति के पुनर्जन्म के द्वारा सत्ता की स्तर परम्परा में ऊपर की और विकसित हो रहा है। इस प्रकार विकसित होते-होते वह विचारों के जगत में तथा सचेतन नैतिकता अर्थात धर्म के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है.... यह विकास तब तक चलता है जब तक कि मन रुपी साधन के सात्विक या आध्यात्मिक अंश की बढ़ती हुई अभिव्यक्ति मनुष्य के अन्दर के व्यष्टिभूत मनोमय पुरुष को, मन से परे की शुद्ध, अध्यात्म चेतना के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने के योग्य नहीं बना देती।'

भारत के सारे ज्ञान-विज्ञान और विचार के पीछे यही केन्द्रीय भाव झकोरे लेता है। भारत के पूर्ण साहित्य में-रामायण, महाभारत और गीता से लेकर कालिदास तक तथा कालिदास से लेकर प्रान्तीय भाषाओं के सुसम्पन्न भक्तिकाव्यों और साहित्यों तक यही केन्द्रीय विचार सब कहीं, कभी छिपकर कभी बाहर आकर लहरें मारता दिखायी देता है। वह कभी दिशा-विदिशाओं में भटका भी है, गिरा भी है, आत्मा के ऊँचे ज्ञान को पार्थिव ज्ञान की सीमाओं से जकड़ा

भी है, भक्ति को श्रृंगार में गिराकर भोग-विलास की वस्तु भी बनाया है, कला और शिल्प में उसे ऐन्द्रिक सुख का साधन भी बनाया है, पर सर्वदा उसमें संयम की एक लगाम लगी रही है जो उसे किसी भी भटकन से बार-बार निकाल लाई है।और आज जब कि श्रीअरविन्द ने इस नयी उषा के प्रकाश में सब-कुछ प्रकट कर दिया है तब उन सारी भटकनों ने अपने औचित्य को प्राप्त कर लिया है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि वह अपने सांस्कृतिक मूल्यों में सबसे से खरा उतरा है। श्रीअरविन्द कहते हैं: "इस जगत में सच्चा सुखप्राप्त करना ही मनुष्य का यथार्थ पार्थिव उद्धेश्य है, और सच्चा सुख आत्मा, मन और शरीर की स्वाभाविक समस्वरता प्राप्त करने और बनाये रखने में है। संस्कृति का मूल्य उसी परिणाम में आंका जा सकता है जिस परिणाम में उसने इस समस्वरता की सच्ची लय को पाया हो..... किसी सभ्यता के गुण-दोष की परीक्षा यह देखकर करनी होगी कि उसके जीवन सम्बन्धी सभी सिद्धान्त, विचार,अनुष्ठान और विधि-विधान इस समता को मूर्तिमन्त करने के लिए किस प्रकार कितनी सफलता से कार्य करते हैं।"

इसी प्रकाश में यदि भारतीय संस्कृति पर हम एक विहंगम दृष्टि डालें और उसकेसाहित्य की 'ओर तनिक देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी। वेदों-उपनिषदों के युग में, जिसे इतिहासकार स्वर्णकाल

> आज हम स्पष्ट देख रहे हैं कि एक उषा की लाली पूरब में बढ़ रही है। यह सत्य, जो कुछ दिन पहले कुछ अंतर्दृष्टाओं का ही सत्य बना हुआ था वही आज कम-से-कमबंगलादेश की घटना के बाद एक साधारण सत्य बन गया है। अब देशी क्या, विदेशी भी पूरब में उगती एक उषा के दर्शन कर पा रहे हैं। भारत में विदेशी जिज्ञासुओं, पर्यटकों, अन्वेषकों की एक भीड़ ही लगती जा रही है। ऊपर के सूक्ष्म लोकों में उषा के अंचल के पीछे से देवताओं के रथचक्र इधर ही दौड़े चले आ रहे हैं। हम इस भागवत मुहूर्त में, भगवान् श्रीअरविन्द की जन्म-शताब्दी के इस वर्ष में, भारत की स्वतन्त्रता की रजतजयंती के इस शुभ अवसर में और धरती पर अतिमानसिक अवतरण की इस चौथी चतुर्वार्षिक जयंती के आ जुटे सुसंयोग में इस चेतना की त्रिवेणी को नमस्कार करते हैं, मनुष्य के भीतर सहेज कर छिपा दी गयी उस मानव अभीप्सा को नमस्कार करते हैं।

कहता है उस समय मनुष्य की दृष्टि को एक अंतर्ज्ञान प्राप्त था। वैज्ञानिक की भाँति बुद्धि के सहारे सत्य की जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता न थी। प्रत्येक वस्तु को वह एक आंतरिक सूत्र में बँधी हुई और तालबद्ध देखता था। प्रत्येक वस्तु जो सत्य का ही

एक प्रतीक है उसके सम्मुख उस सत्य को इंगित कर देती थी। उसी दृष्टि ने गौ में किरण-प्रकाश का और अश्व में प्राणशक्ति का साक्षात्कार प्राप्त किया था। इसी प्रकार जीवन की साधारण दीखने वाली नाना वस्तुएँ वेदों के गुह्य प्रतीक बन गयी थीं जिन्हें फिर कभी भी मनुष्य अपनी बुद्धि के सीमित माध्यम द्वारा खोल ही नहीं पाया। इस सीधे और सच्चे तरीके को आगे चल-कर या तो एक रहस्यता और गुह्यता का नाम दिया जाने लगा या पाश्चात्य भौतिक दुष्टि के लिए वह भद्दी और जंगली उपमाएं बन गया। यह सत्य काल्पनिक नहीं था, जीवन की चट्टान इसका आधार थी। इसी के अनुसार जीवन के विधानों को ढाला गया था। चार आश्रमों और वर्णों की सुन्दर स्वतन्त्र रचना हुई थी। विधानों में बंधा राज्य शासन सुचारु रूप से चलता था। राजा का स्थान ऊँचा होते हुए भी ऋषि का स्थान सर्वोपरि था। यह एक अत्यन्त सुदृढ़ व्यवस्था थी। इसी सत्य को केन्द्रित करके शास्त्रों की रचना हुई थी पर निश्चय ही आत्मज्ञान के उन्नत प्रकाश में किसी देश की चेतना बहुत देर तक उठी नहीं रह सकती, जब तक कि यह प्रयत्न मन, प्राण से होता हुआ सारी जड़ता को भी बटोरता हुआ जो मनुष्य की नींव है उसे भी न रूपान्तरित कर ले। तो फिर उसकी तैयारी होनी ही थी। जड़ता में उस सत्य को जिया ही जाना था, और उसे सर्व-साधारण से ग्रहण करने योग्य स्तर पर लाना था। सर्वसाधारण का करण केवल बुद्धि ही बन सकती थी। जब तक पार्थिव मन जगकर स्वयं ही उस सत्य को ग्रहण करने योग्य न बने, तब तक दूसरा उपाय न था। इसीलिए इतिहास काल में उस सत्य को बुद्धि के स्तर पर उतारना पड़ा। फिर भी रामायण, महाभारत में उस सत्य को ऋषियों और मनीषियों ने एक सत्य-कल्पना के सहारे कला के नयनाभिराम और साहित्य के हृदयाकर्षक सुन्दर माध्यम के सहारे उसे जो स्वरूप दिया था वह अद्भुत था। कथाओं, दृष्टांतों और रूपकों द्वारा जीवन-आदर्शों के प्रदर्शन ने एक ललित रुप धारण किया था। विश्व में काम कर रही नाना प्रकार की शक्तियों का देवताओं के स्वरुपों में कला में निरूपण हुआ था। इस क्रिया में देवताओं की करोड़ों तक पहुँची संख्या भी ऐसी सुगठित थी वे अपने मूल स्रोत में उस एकमेव पर बराबर केन्द्रित थे। ये सब ऐसी बातें हैं जो निरे बुद्धिवादी की सीमित दृष्टि में यकायक नहीं बैठ सकतीं और वह इन्हें कपोल-कल्पना कहे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह सब अन्तर में छिपी उसी अभीप्सा का फल था। इसी साहित्य ने हमारी संस्कृति का मानदण्ड उपस्थित किया है। फिर भी चाहे जितनी कुशलता बर्ती जाये सारी जीवनचर्या और विचारधारा के पीछे आन्तरिक और बाह्य, दो रूप तो होते ही हैं। आन्तरिक अर्थ धीरे-धीरे मिट गया और बाह्य रूपों ने कर्मकांडी क्रियाकलापों का स्थान ले लिया। पाखण्ड, धर्म-कट्टरता तथा जन्मानुसार वर्ण-व्यवस्था और ऊँच-नीच के ओछे भाव ने सारे देश का विघटन कर डाला। यह एक घोर पतन का समय था। भगवान् का सिंहासन फिर डोला और उसी अभीप्सा की अग्नि एक मानव-अन्तर में फिर प्रज्वलित हो उठी। यह सही है कि ऐसे जुगुप्सा भरे काल में किसी भी बुद्धिमान को आत्मा- परमात्मा से विराग हो जाना स्वाभाविक है जबकि सारा अनाचार भगवान के नाम पर किया जा रहा हो। ऐसे में भगवान् बुद्ध का जन्म एक बड़ी भारी घटना है। उनकी तपस्या से फिर एक नये जीवन का संचार हो गया।

उन्होंने बुद्धि से ही अपना नाता सीधे शाश्वत शांति से जोड़ लिया और ज्ञान की चरम कोटि को प्राप्त कर सारे बाह्य क्रिया-प्रपंच को ठुकराकर एक महान सदाचार को, एक गुणकर्मानुसारी वर्ण-व्यवस्था को कायम करके एक नये युग का प्रारम्भ किया। उनके भिक्षुओं ने भारत के कोने-कोने में ही नहीं अपितु सुदूर देशों में, अलंध्य पर्वतों और जंगलों की बाधा को पैदल ही पार कर इस सत्य धर्म का बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय प्रचार किया। सत्य की लगन का यह एक अनूठा उदाहरण है।

पर भारत भला आत्मा-परमात्मा के नाम के बहिष्कार को भी कहाँ सह सकता था? बस शीघ्र ही, फिर एक भारी परिवर्तन आता है और शंकर का ब्रह्मवाद और मायावाद उसका स्थान ले लेता है। उनके मठऔर मंदिर भारत के चारो कोनों में अपने ध्वज फहराते हैं। मंदिरों के बुर्ज़ आज भी अपने वैभव को अंतर में समेटे एक गुह्य भाषा में कुछ मौन संकेत कर रहे हैं। शंकर का यह दर्शन भगवान को तो लाता है पर मानव-जीवन को फिर भी पंगु बनाता है। जिस वैदिक संस्कृति ने जीवन के प्रांगण में सभी तरह का वैभव बिछाया था वह जीवन-विमुख कैसे बन सकती थी? पुराणों ने जिस जीवन को समृद्ध बनाने के लिए उसमें नानाविध देवताओं की स्थापना की और उसे उनकी लीलाभूमि बनाने के इतने प्रयत्न किये उस जीवन को वह झूठ मानने को कैसे तैयार हो जायेगी? अत: फिर एक संयत आस्था पाकर भक्ति का स्थान ले लेती है, यद्यपि इस धारा को बहुत से जोखिमों से होकर गुजरना पड़ा, फिर भी यह अन्तर अभीप्सा की एक अनिवार्य मांग सिद्ध हुई है। मुसलमानी काल की सारी बाधाओं को पार कर यह अजेय-सी ही बन गयी है। भक्ति की पुरानी शाक्त धारा मात्र यह न थी, यह शैव और वैष्णव भक्ति की अजस्र धाराओ में प्रवाहित हो चली और उत्तर से दक्षिण तक इसने सारे भारत को एक समुद्री तूफान में डुबो दिया।

पर यह धारा भी भौतिकता के भारी आक्रमणों को पचा न सकी और एक प्रकार का अंतर्मुखी पलायन ही सिद्ध हुई। अंगरेजी राज्य की तड़क-भड़क के सम्मुख यह धारा एक शर्मीली, कंपित और संयत-सी ही बनी रही । शायद इस आधुनिक भौतिकता को तो कोई और भी सशक्त अभीप्सा अपेक्षित थी। अनुत्तरित जिज्ञासा की खीझ ने एक उलटी गंगा को भारत में खुलकर बहा दिया। चारों ओर अंगरेजियत का बोलबाला हो उठा, पर उलटी होते हुए भी उसने भारतीय अभीप्सा का भला ही किया है। उसी की प्रतिक्रियास्वरूप इस समय भी तिलक, गोखले, गांधी और जवाहर पैदा हुए और भारत स्वतन्त्र हुआ। पर यह स्वतन्त्रता देवी गरुड़ के किन पंखों पर बैठ कर पायी है और क्या करने आयी है इसे कोई भी पूरी तरह ताड़ न सका। बस केवल, एक दिव्य मुहूर्त के नीचे उसका अनुकरण करके भारत को स्वतन्त्र भर करा लिया गया। यह स्वतन्त्रता तो अभीप्सा की वही आदिम ज्वाला लेकर आयी थी जिसे एक सत्य-युग प्रारम्भ करना था। इसे तो सब-कुछ के पीछे खडा, सब-कुछ का कर्ता-धर्ता-सा एक ऋषि ही समझ रहा था। उसी ने स्वतन्त्रता के यज्ञ में घृत की आहुतियाँ दी थीं और तात्कालिन भूख को भोजन देकर वह हट आया था, हट आया था विश्व के महायज्ञ में विशालतम आहुतियाँ देने को। सूक्ष्मदर्शी भली-भाँति देख रहे हैं कि श्रीअरविन्द ने हमारे अचित जगत के विश्व-पिता यम का पूरी तरह तर्पण कर दिया है और हमारे शाश्वत प्रभात को, हमारे सामने की सब बाधाएं हटाकर आवाहित किया है।

आज हम स्पष्ट देख रहे हैं कि एक उषा की लाली पूरब में बढ़ रही है। वह सत्य जो कुछ दिन पहले कुछ अन्तर्दृष्टाओं का ही सत्य था आज, कम-से-कम बंगला-देश की घटना के बाद, एक साधारण सत्य बन गया है। अब देशी क्या, विदेशी भी पूरब में उगती एक उषा के दर्शन कर पा रहे हैं। भारत में विदेशी जिज्ञासुओं, पर्यटकों, की एक भीड़ ही लगती जा रही है। ऊपर के सूक्ष्म लोकों में उषा के अंचल के पीछे से देवताओं के रथचक्र इधर ही दौड़े चले आ रहे हैं। हम इस भागवत मुहूर्त में, भगवान् श्रीअरविन्द की जन्म-शताब्दी के इस वर्ष में, भारत की स्वतन्त्रता की रजत जयंती के इस शुभ अवसर में और धरती पर अतिमानसिक, अवतरण की इस चौथी चतुर्वाषिक जयन्ती के आ जुटे सुसंयोग में इस चेतना की त्रिवेणी को नमस्कार करते हैं। मनुष्य के भीतर सहेज कर छिपा दी गयी उस मानव-अभीप्सा को नमस्कार करते हैं। आज इस शुभ अवसर पर हम सबसे पहले उस आतुर, उत्सुक, अग्नि-संकल्पी नयी पीढ़ी का अभिनन्दन करते हैं जो नवयुग के सर्जन को अत्यधिक उतावली बैठी है। उनकी हृदय-अग्नि ने साहस कर जीर्ण-शीर्ण पुराने मूल्यों को ढहाया है या ढहाने पर उतारू हैं। यह बात इतना ही व्यक्त करती है कि उनके हृदय नवीन को पाने के अधिकारी हैं। पर अपने प्रवेश में वे जो कुछ करते दिखायी पड़ते हैं वह सब ठीक नहीं, क्योंकि वह उन्हें किसी ऐसी उलटी दिशा में भी पटक सकता है जिससे वे कभी न निकल सकें। इस सन्धि-काल में, नवयुग-सर्जन में उन्हें बड़ी सावधानी बरतनी होगी। उन्हें भारी तप करना होगा और अर्जुन की भांति भगवान् के आदेश का योग्य पालनकर्ता बनना होगा, तभी श्रीअरविन्द के मार्ग में वे गोता लेंगे। उनका प्राकट्य उन समित्पाणियों के लिए ही हुआ है जो तैयार खड़े हैं। हम उन जिज्ञासु नवयुवकों का आह्वान करते हैं कि वे आकर इस नये सूर्य के प्रकाश में अपनी मेधा को ज्योति ग्रहण करने दें। जीवन के सभी क्षेत्रों में एक नयी जागृति को जन्म दें। अपने रचनात्मक रंगों, सुगन्धियों और चहचहाटों से जीवन को कल-कल झर-झर से आक्रमित कर दें। पार्थिवता, भौतिकता और जड़ता पर लगी मुहरबन्दियों को तोड़-फोड़दें। इस प्रकार आत्मा और जड़ता के सामंजस्य को उपस्थित करें। बस फिर सारा ज्ञान-विज्ञान और कलाएं जिसको पुकार रही हैं, उसी सामंजस्यमयी सुषमा के डोले को द्वार-द्वार पर उतरने दें।

राजनीति नहीं, चेतना का रुपांतर

डॉ. केदारनाथ वर्मा

यदि राजनीति के डण्डों से मानव-जीवन दिव्य हो सकता तो आदम की सन्तान कब की स्वर्ग लौट गई होती। पश्चिम में हर चीज का इलाज या तो बम है या विधेयक। आकाश को छूने वाली विधियों और बमों की ऊँचाई को नापकर ही वह सभ्यता की दौड़ में अपने को विजेता मानता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि कानून की जिल्दें जितनी मोटी होती जायेंगी अपराधों के आंकड़े भी उतने ही मोटे होते जायेंगे। न्याय का पौधा राजनीति की भूमि पर नहीं उगता। उसके लिए अन्तश्चेतना की गहराई चाहिये। मानव प्रकृति तो कुत्ते की पूंछ है जिसका सिरा निश्चेतना के खूटे से बँधा हुआ है। इसे मुक्त करने के लिए निश्चेतना की शिला को तोड़ना होगा। पूरे मानव को ही बदलना होगा। उसकी पूरी प्रकृति का ही रूपान्तर करना होगा। उसके भीतर अपने पशुत्व को धोने की भूख पैदा करनी होगी। यह भूख राजनीति की खुराक देकर नहीं बढ़ाई जा सकती। सम्पूर्ण चेतना का रूपान्तरण करना होगा।

राजनीतिक हल हमारी समस्याओं का न कभी अन्तिम हल हो सकता है और न ही नये समाज की रचना का शिखर। राजनीति की आधारभूत शक्ति है 'रजस' और 'राजसिक' अहंकार की तीन शक्तियाँ हैं काम-क्रोध-लोभ। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'यही तीन द्वारोंवाला नरक है। आसुरिक प्रकृति राजसिक प्रकृति की चरम सीमा है।' उन्होंने गीता-प्रबन्ध में एक जगह लिखा है, 'मानवीय बुद्धि और संकल्प के सम्पूर्ण असत्य और अनाचार में तीन चौथाई का कारण है राजसिक बुद्धि' जो आज के मनुष्य की एक अनिवार्य भूख और खुराक दोनों ही बन चुकी है।

विदेशी आधिपत्य के पूर्व तक भारत में राजसिक शक्ति हमेशा ही धर्म के आश्रित रही है। अवश्य ही इस धर्म का अर्थ तब 'मजहब' से नहीं अपितु आध्यात्मिक जीवन से था। पश्चिम में आरम्भ से ही राजनीति को मनुष्य की सर्वोच्च उपलब्धि माना जाता रहा है और मध्ययुगीन यूरोप में जिस पोपशाही का प्रभुत्व रहा है वह भी धर्म के वेश में एक निकृष्ट राजनीति ही थी। श्रीअरविन्द ने बहुत स्पष्ट शब्दों में भारतीयों को सचेत करते हुए कहा है कि राजनीति भारतीय वस्तु नहीं है उनकी अपनी वस्तु है आध्यात्मिक प्रेरणा। वर्तमान राजनीति पश्चिम की देन है। विदेशियों के आक्रमण और इस भूमि पर उनके आधिपत्य के कारण इस देश में धर्म का क्षय हुआ। इससे एक रिक्तता पैदा हुई। इस सारी रिक्तता को राजनीति ने भर लिया और देवता को चढ़ने वाले सारे नैवेद्य को स्वयं ही हड़पने लगी। आज तो 'धर्मनिरपेक्षता' का अर्थ धर्म विमुखता से किया जाता है। शायद इसलिए कि ऐसा करना पश्चिम के मापदण्ड में बौद्धिक उत्कृष्टता का सबसे बड़ा प्रमाण है ।

अहं पर आरूढ़ राजनीति और आत्मा द्वारा सिंचित अध्यात्म विपरीतगामी है। सारा भारतीय वाङ्मय अहं की शून्यताका काव्य है। वह अधिकारों की मांग की जगह कर्मयोग की साधना है जो एक अर्जुन से यह कहलाकर उसे गौरवान्वित करती है कि है कि 'हे आत्मन! तू ही एकमात्र शासक है, ले इस डोरी को पकड़ और रथ को हांक, मैं तो तेरा यन्त्र हूँ; तेरे पीछे चलने में विजय है पर आगे चलने में बाणों की मार।' आधुनिक राजनीति कहती है ,'मैं ही भगवान हूँ। मैं ही ठोक-पीटकर आत्मा को गढ़ती हूँ। मेरी पूजा करो, सारी मालायें मुझे ही पहना दो, सारे अभिनन्दन ग्रन्थ मुझे ही भेंट करो और जो मेरी स्तुति नहीं करेगा उसे गोली मार कर न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठ जाऊँगी!'

जब राजनीति भगवान बन जाती है और उसके उपासक मैकिआविली के सम्बन्धी तो मानव जीवन सड़ी नालियों में बहने लगता है। उसमें तब संक्रामक कीड़े और बीमारियां तो पैदा होंगी ही। उन्हें भगाने के लिए और राजनीति तथा और राजनीति से और नालियाँ और कीड़े और बीमारियाँ! और नालियाँ तो बहने औरसड़ने के लिए ही होती है। उनसे दुर्गंध नहीं तो क्या फूल की महक आयेगी? शरीर का प्रत्येक चप्पा समस्याओं के फफोलों से इतना भर चुका है कि मवाद की ये नालियां अब आत्मा के ऊपर से न बहेंगी तो क्या इनके बहने के लिए चन्द्रमा से धरती आयेगी? और चन्द्रमा ही ऐसा कौन 'चाँद' है जिसके मुंह पर राजनीति ने अपना झाड़ू न चला दिया हो?

प्रश्न राजनीति को भगाने का नहीं है, प्रश्न उसकी लम्बी भुजाओं को काटकर छोटा करने का है जिससे वह अपनी ऊँचाई से अधिक ऊपर की चीजों को पकड़कर अपने दाँतों से तोड़ न सके! भला राजनीति को क्या अधिकार है कि वह जीवन की छत तथा उसके उन बन्द दरवाजों पर भी अपना ताला डाल दे जिनके अन्दर उसने कभी झाँका तक नहीं? और यदि किसी भी पुकार से अज्ञात की संभावनायें भागीरथी पुकार बनकर जीवन के इस नरक में उतरती हैं तो भला अपनी नालियों को बचाने के लिए हाथ उठाकर उसे रोकने का इसे अधिकार किसने दिया? क्या यह सच नहीं है कि पश्चिम अपने निरंकुश शासन के द्वारा इस संस्कृति को नष्ट करने में जो सफलता प्राप्त नहीं कर सका वह उसने अपनी राजनीति बेचकरसहज ही में प्राप्त कर लिया? और क्या यह सच नहीं है कि अपने मूल्यों की किंचित भी परवाह न करते हुए महलों से लेकर झोंपड़ियों तक यह

सारा राष्ट्रीय जीवन बिना श्रम या कर्तव्य के सारे लाभ बटोर लेने के नशे में चूर सड़कों पर हाथापाई कर रहा है?

भला व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन का कौन-सा कोना बचा है जिस पर राजनीतिक प्रमाद ने अपना कुठार न चलाया हो? पश्चिम के राजनीतिक विचारक यह भूल जाते हैं कि लोकतान्त्रिक जीवन का नियन्त्रण करनेवाली समूह विशेष की 'सदिच्छा' के साथ (यदि उसे सदिच्छा कहा जा सके तो) उसका सामूहिक अहं अधिक तीव्रता के साथ सक्रिय होता है। रूसो ने जब लोकतन्त्र का आधार ढूंढ़ते समय 'सामान्य इच्छा' का फार्मूला निकाला तो अपने बीजगणित में इस 'सामान्य-अहं' का पूरा लेखा ही गोलमाल कर गया। राजनीति के खाते में इस लिए लोकतंत्र की बेलेन्शीट आजतक नहीं मिल पाई। जब राजनीति के साथ इस देश में अहिंसा और हृदय-परिवर्तन की बात जोड़ी गई तब भी इस हिसाब को पूरा-पूरा छोड़ दिया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि आज राजनीति अपनी राजनीति के लिए अहिंसा की रक्षा कर रही हैं जिसने कभी राजनीति को भगाने का संकल्प किया था। 1962 में श्रीअरविन्द की भविष्यवाणी के अनुसार जब भारत पर चीन का आक्रमण हुआ तो इस पिछले हिसाब को फिर से देखा गया और पश्चिमी राजनीति को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उसके लिए अहिंसा और अध्यात्म पर अपना निर्णय देने का अधिकार अब भी सुरक्षित है।

श्रीअरविन्द ने जिस आध्यात्मिक पुनरुत्थान का सन्देश दिया है उसमें उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दी है कि अहिंसा को मानव प्रकृति के ऊपर टोपी बनाकर नहीं पहना जा सकता और हृदय-परिवर्तन को दान के आँकड़ों के आधार पर गाउन पहनाकर उपाधि की तरह बाँटा नहीं जा सकता। आत्मिक अभीप्सा किसी गणित के प्रश्न का उत्तर नहीं है जिसे कुंजी में लिखे उत्तर से मिलाकर ठीक होने का प्रमाण पत्र दे दिया जाये। आध्यात्मिक जीवन कुछ निश्चित वर्षों का प्रशिक्षण भी नहीं है, वह तो पूरे जीवन भर होने वाली सत्य की साधना है; 'सारा जीवन योग है'। राजनीति को यह समझना होगा कि जीवन में मूल्य के दानों को निकालने का खलिहान केवल उतना ही चौड़ा नहीं है जितना उसके पंख फैल पाते हैं। वे तो उस विराट की कमर तक को नहीं छू पाते। राजनीति यह दुराग्रह भी नहीं कर सकती कि जब तक वह अपनी पश्चिमी तर्क-बुद्धिसे सत्य के कल्पित छोरों को देख नहीं लेगी तब तक उसकी रक्षा का प्रयत्न नहीं करेगी क्योंकि जब राजनीति सत्य को देख लेगी तो वह राजनीति न रह कर गीता का बारहवाँ अध्याय बन जायेगी। अपने सही स्थान पर खड़े होने के लिए पश्चिमी राजनीति को अपने सर्वभक्षी दांतों को बन्द करके जीवन कि उस समग्रता का अंग बनना होगा जो विकास के पथ पर अपनी परिपूर्णता को खोज रहा है।

अगर वर्तमान राजनीति जीवन के तिमंजिले (शरीर, प्राण और मन) के ऊपर आत्मा की चौथी मंजिल भी स्वीकार कर ले जैसा कि भारतीय राजनीति अपने गौरवशाली अतीत में करती रही है तो वह इस देश की परम्परा और जीवन दर्शन के अनुकूल ढल जायेगी। तब वह अपनी सम्प्रभुता की गिनी-गिनाई सौ तक कि गिनती के स्थान पर जनक और अर्जुन की तरह शाश्वत का पल्ला चाहे न भी पकड़े तो भी सत्य की खेती को असावधानी की रात में वह 'बल' और 'वृत्त' जैसे 'पणियों' द्वारा काटी जाने से तो बचा ही सकती है। राज्य की हिंसक शक्ति का इतना ही औचित्य है, न इससे कम और न इससे अधिक। पश्चिमी राजनीति अहं को अपना आधार मानकर चलती है और इस अहं की इच्छा को जन-जीवन पर कभी तो संगीन के बल पर लादती है, कभी उठे हुए हाथों की गिनती के बल पर, यद्यपि ये सभी हाथ उसके अपने ही सधे हाथ होते हैं और गिनती गिननेवाली कुर्सियाँ उसी की ताँत से बुनी जाती हैं।

पर यदि राजनीति के डण्डों से मानव जीवन दिव्य हो सकता तो आदम की सन्तान कब की स्वर्ग लौट गई होती। पश्चिम में हर चीज का इलाज या तो बम है या विधेयक। आकाश को छूनेवाली विधियों और बमों की ऊँचाई को नापकर ही वह सभ्यता की दौड़ में अपने को विजेता मानता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि कानून की जिल्दें जितनी मोटी होती जायेंगी अपराधों के आँकड़े भी उतने ही मोटे होते जायेंगे। न्याय का पौधा राजनीति की भूमि पर नहीं उगता। उसके लिए अन्तश्चेतना की गहराई चाहिये। मानव–प्रकृति तो कुत्ते की पूँछ है जिसका सिरा निश्चेतना के खूँटे से बँधा हुआ है। इसे मुक्त करने के लिए निश्चेतना की शिला को तोड़ना होगा। पूरे मानव को ही बदलना होगा। उसकी पूरी प्रकृति का ही रुपान्तर करना होगा। उसके भीतर अपने पशुत्व को धोने की भूख पैदा करनी होगी। यह भूख राजनीति की खुराक देकर नहीं बढ़ाई जा सकती। सम्पूर्ण चेतना का रूपान्तर करना होगा। और यह सब-कुछ सम्भव है। श्रीअरविन्द का पूर्ण योग चेतना के रुपान्तर का ही योग है। वह मनुष्य के पूरे रुपान्तर का ही योग है। वह मनुष्य को पूरा बदलने का योग है।

श्रीअरविन्द-योग उन सम्भावनाओं से आरम्भ होता है जिनके द्वारा सासांरिक जीवन को ही भागवत जीवन में रुपान्तरित किया जा सके। श्रीअरविन्द इसलिए समाधि, व्यक्तिगत मोक्ष और निर्वाण की उपलब्धियों को पीछे छोड़ते हुए अपनी कठिन साधना के पंखों पर आरूढ़ होकर परात्पर के उस द्वार तक पहुंचे जहाँ से चैतन्य शक्ति पृथ्वी के समस्त जीवन को संचालित करती है। चेतना के इस शिखर को उन्होंने 'अतिमानस' कहा। यहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि जगत की रचना का उद्देश्य जीवन को मिटाना नहीं अपितु उसे भगवान के अनुरूप गढ़ना है और 'अतिमानस' की चेतना में ही वह शक्ति है कि वह अपने सीधे हस्तक्षेप द्वारा संसार की वर्तमान गतिविधियों में आमूल परिवर्तन कर उसे एक दिव्य स्वरूप प्रदान कर सके। हजारों समाधियों और अनगिनित व्यक्तिगत मोक्षों में वह शक्ति नहीं कि वे प्रकृति की अवचेतना में स्थित मानव जीवन की कुरुपता को रूपान्तरित कर सकें। संसार की सारी समस्यायें

और संघर्ष की सारी जड़ें इसी अवचेतना के पाताल से निकलती हैं। श्रीअरविन्द ने अपनी साधना द्वारा मानव की इस मूल कठिनाई को समझा और उसके चिर अभीप्सित देवत्व की आकांक्षा को अतिमानस की चैतन्य-शक्ति तक पहुँचाया। इतना ही नहीं, जब तक जगत के दिव्य रूपान्तर का स्पष्ट वादा नहीं कर दिया गयातब तक उस चिन्मयी की देहरी से उन्होंने अपना माथा नहीं हटाया। तब उन्हें उत्तर मिला

'0 strong forerunner
I have heard Thy cry
One shall descend and
break the Iron law,
Change Nature's doom
by the lone Spirit's Power'

यह था वह वरदान जिसके लिए श्रीअरविन्द ने लिखा है, ' परम प्रभु से मैंने जो वरदान माँगा है, वह पृथ्वी परमात्मा से जिन वरदानों को मांग सकती है, उनमें सबसे बड़ा है। 'यह था श्रीअरविन्द का मानवता के लिए वह बलिदान जिसके लिए श्रीमाँ ने पृथ्वी के इतिहास को बदलने वाली ये घोषणाएं की हैं :

'एक दिन अवश्य आयेगा जब प्रेम इस जगत को मृत्यु से मुक्त कर देगा।' 'पृथ्वी पर अतिमानस की अभिव्यक्ति अब कोई आश्वासन की बात नहीं रही अपितु वह एक जीवन्त तथ्य और वास्तविक सत्य है। अतिमानस यहाँ कार्य कर रहा है और एक दिन आयेगा जब अत्यन्त अन्धे, अत्यन्त अचेतन और बिल्कुल अनिच्छुक भी उसे स्वीकार करने को बाध्य होंगे।'

श्री अरविन्द ने जिस सावित्री या अतिमानसिक चेतना का अवतरण कराया है उससे पृथ्वी के विकास में चौंका देनेवाली सम्भावनाओं का विकास हो रहा है। श्रीमाँ की अनुभूतियों के अनुसार अतिमानस की अनेक शक्तियाँ एक के बाद दूसरी इस पृथ्वी की चेतना में उतरती जा रही हैं और इस पतझड़ के नीचे नयी कोंपलों का अंकुरण प्रारम्भ हो गया है। एक नये जगत का जन्म हो रहा है जिसे इस बात की परवाह नहीं है कि पुराने पत्ते कितना खड़खड़ा रहे हैं, या प्राचीनता के नंगे टीलों पर कितनी मोटी धूल जमा हो चुकी है अथवा फ्रायड के तराजू में चर्बी का वज़न कितना बढ़ गया है, मरते युग की लाश पर से जाने वालों को इस बात की चिन्ता नहीं होती कि पद्मा के कागार कितने ऊँचे हैं 'सातवें बेड़े' की तोपों का मुँह कितना चौड़ा है। नया युग तेजी के साथ उभर रहा है और तथाकथित बौद्धिक आधुनिकता के सारे दावे एक-एक करके अमान्य होते जा रहे हैं। कल जातीयता का खंभा गिरा, आज सम्प्रादियक सम्प्रभुता का, आने वाला कल यह शीघ्र ही बता देगा कि अब किसकी बारी है । मन का मोटा तना अपनी गंजी खोपड़ी दिखाकर आखिर कब तक सयाना होने का दावा करता रहेगा और सभ्यता की खुली सड़क पर रात दिन अण्डा देनेवाली मुर्गियाँ आधुनिकता के नाम पर विकास के रथ को कब तक अपनी चोंचों से पकड़े रखेंगी? श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'आगामी युग के भविष्य-निर्माण में सर्वाधिक सहायता करने वाले वे होंगे जो मानव की आध्यात्मिक नियति और उसकी अनिवार्यता को पहचानेंगे।'

वह संकल्प जिसे दोहराना है:

संकल्प है इस नये युग के प्रभात में चेतना की नयी खेती करने का अर्थात् मृत्यु के राज्य में जीवन को फिर से लौटाने का; संघर्ष, झूठ व धोखाधड़ी के जीवन की हाय-हाय को मिटाने का। इस संकल्प को पूरा करने के लिए मनुष्य को नयी चेतना का बीज मिल गया है; देवताओं की धरती हमारे पास है, शक्ति भी है और सम्बल है उन भुजाओं का जो अज्ञात के छोरों से निकल कर सहलाये जा रही हैं हर पीठ को। जीवन की अनजानी परतों में भी एक चिनगारी फेंक दी है इस चिन्मयी ने। कुछ के भीतर वह सुलग चुकी है, कुछ उसे फूँक रहे हैं। एक वास्तविकता है, एक आश्वासन है, एक संकल्पना है जो ठेले जा रही है इस आग में। कहती है 'उठो, कुदाल कन्धे पर धरो और, आगे बढ़ो; जीवन की इस ऊबड़-खाबड़ धरती से एक-एक अंगुल मिट्टी खुरेदकर अपनी अनगढ़ी चट्टानों के बीच से रास्ता बनाने के लिए अपनी-अपनी टाँकी चलाओ। रेगिस्तान के बीच उपवन का संकल्प लेकर चलने वालों! बालू पर धँसे उस महामानव के पाँवों की लम्बाई को निहारो जो चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है-इस रास्ते को पकड़कर आगे बढ़ो, सुरंग के आगे प्रकाश है। इस धरती को फिर से बसानेवालों! सम्बल की इस लकड़ी को पकड़कर एक साथ चलो और अपने संकल्प को साथ-साथ गुनगुनाओ। उन यशस्वी पुत्रों की ओर न ताको जो अपने नाखूनों की लम्बाई बढ़ाने, नाक के बालों की रस्सी बनाने, अपने ही गाल पर थप्पड़ मारने, बिना रुके बकवास करने और सिनेतारिकाओं की आँखें पहचानने की प्रतियोगिताओं में भाग लेकर ऐतिहासिक कीर्तिमान कायम करने में लगे हैं। आगे बढ़नेवाले केवल सामने की धरती नापते हैं, वे मुरम और गिट्टी पर अपनी धुरमुस चलाते समय मेजों पर चम्मचों की खनखनाहट और मसखरों के कहकहे नहीं सुना करते।

पन्द्रह अगस्त के इस राष्ट्रीय और आध्यात्मिक पर्व में उन सारी आत्माओं के लिए श्रीअरविन्द का आह्वान है जो नये युग की भूख और भागवत् जीवन की साध लेकर इस धरती को फिर से बसाने के लिए सांसारिक बुद्धिमत्ता के पैने दाँतों के बीच सिसक-सिसककर जी रहे हैं। भावी समाज के पन्नों को लिखनेवाली यह प्रारम्भिक वर्णमाला तैयार हो रही है, और माँ के अंचल में रखी नये जगत की गीली माटी पर उगने वाले जीवन के ये बीज प्रस्फुटित हो रहे हैं। आओ, आज के दिन इन बीजों को उठा-उठाकर पंक्तिबद्ध करें। आओ, माँ की इस खेती को सजायें।

मनोमय चेतना के छायालोक के उस पार

–छोटेनारायण शर्मा

कविवर रवीन्द्र ने श्रीअरविन्द को सम्बोधित करते हुए कहा था, 'आप स्वदेश-आत्मा की वाणी-मूर्ति हैं' लेकिन यह 'स्वदेश-आत्मा' है क्या? पांडिचेरी आश्रम की माता जी ने कहा है, "भारत माता तो एक दिव्य सत्ता हैं, देवी हैं, वे सारे संसार की माता हैं"। श्रीअरविन्द का सन्देश इन्हीं जगन्माता का सन्देश है। यह एक दिव्य सन्देश है, जो जीवन-सिद्धि के लिए उन्होंने मानव मात्र को दिया है।

श्रीअरविन्द ने जो सन्देश हमें दिया है वह थोड़ा चौंकानेवाला है, जीवन के सामान्य परिवेश का जो रंग-ढंग आज हम देख रहे हैं, उससे अलग है , उसमें विक्षेप-सा पैदा करनेवाला है। यह सही है कि हमारा खुद का रंग-ढंग भी कम विक्षिप्त नहीं है। हम आन्दोलनों में जीते हैं, क्रान्तियों के वाहन हैं और विज्ञान की विजय-पताका हाथों में थाम धरती और समुद्र का चक्कर काट अब आसमान की ओर बढ़ने लगे हैं। हमारा आज का जीवन क्रिया संकुल है, फलों से भी लदा हुआ है। लेकिन तृप्ति इसमें है नहीं। सुख के नाम पर तो अब हम थमने और सो जाने की परम्परा को भी हारते-से दिखलायी पड़ रहे हैं। युग का आरम्भ विज्ञान के शंखनाद से हुआ था। आज युगान्त की छाया सारे संसार पर पड़ रही है। शंखनाद से और भी तेज है। लेकिन इसी परिवेश में एक धीमी आवाज़ भी सुनायी पड़ रही है। हमने पहले भी इसे सुना था, "उसे जानकर ही मृत्यु के ऊपर विजय पायी जा सकती है, दूसरा तो कोई रास्ता ही नहीं है-"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेअयनाय। हम इसी सन्देश की धीमी आवाज आज भी सुन रहे हैं। बाहर कोलाहल भरा हुआ है। लेकिन यह वाणी भी स्पष्ट है क्योंकि यह हमारी अपनी ही सत्ता की, अपनी ही आत्मा की वाणी है।

अतीत की इस वाणी का जो नया रूप श्रीअरविन्द ने हमारे सामने उपस्थित किया है वह अपने आप में एक आश्वासन है, आज के अकल्पनीय संकेत से भरी हुई क्रिया है, एक' निर्णायक हस्तक्षेप' है। रास्ता तो शायद पहले भी दिया जा चुका था, लोग चले भी थे और मृत्यु के उस पार अमृत का भोग भी सम्भव हो चुका था। नहीं तो काल के जिस दीर्घ पंथ से हम गुजरे हैं उस पर चलते हुए साधारण किसी भी स्वाद को भुलाया जा सकता था। हमें तो वह अनोखा स्वाद आज भी याद है लेकिन वह एक खण्ड यात्रा थी, अनुभूति भी खंडित थी। श्रीअरविन्द ने इसी राह को खोलकर एक विचित्र पूर्णता के साथ हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आज की घड़ी भी यह ऐसी है जब मृत्यु की छाया सारे संसार के ऊपर सघन हो उठी है।

श्रीअरविन्द ने आज से बहुत पहले एक कविता में कहा था, "कलियुग का अन्त उपस्थित है, मरते हुए अतीत के प्रकंप से सारा संसार हिल उठेगा। परन्तु धरती के पाप धुलेंगे और वह एक अधिक सुन्दर रूप धारण करेगी।" इस दृष्टि से देखा जाये तो आज जिस भूचाल की घड़ी में हम जी रहे हैं वह एक सार्थक भूचाल है। यह तो निर्माण के पहले की सफाई का काम है जो हम देख रहे हैं। रुद्र के इस महासंहार के बाद ही आयेगी विष्णु की नूतन सृष्टि। परन्तु वह नूतन सृष्टि कैसी होगी? उसका आधार क्या होगा?

साधारणतः आज तक जो हमारा जीवन रहा है वह घर बांधते और मिटाते रहने का ही खेल रहा है। मनुष्य का जीवन उसके शरीर का जीवन अधिक, अन्तरात्मा का कम रहा है। उद्वेलित प्राण की उत्कंठाओं के लिए भाग-दौड़ कर तृप्ति जुटाते रहने के प्रयास को ही तो हमने जीवन समझा है। मन ने भी इसी भागदौड़ में अपना सहयोग दिया है। उसने इसका संशोधन कम, परिवर्धन अधिक किया है। जो मनोमय पुरुष प्राण और शरीर का नेता- 'मनोमयः प्राणशरीर नेता' था, वह प्राण का वाहन बन गया है और उसके लिए भोग जुटाने की ही कला को अपना असली काम समझ बैठा है। आदमी आज इसीलिए वन-पशु से भी नीचे गया-सा लगता है। बाघ जन्तुओं को मारता है, पेट भरने के लिए। प्राण का आदेश वह पालन करता है। लेकिन बुद्धि का वह योग उसके प्राण को कहाँ मिला है जो सिखला दे कि जगंल में वह एक कोल्ड रुम ढूँढ़ निकाले और इतने जन्तुओं को मार कर उसमें भर ले जितने उसकी वृद्धावस्था में निर्वाह के लिए आवश्यक हों। मनुष्य इसीलिए जब पशुता की दीक्षा को ही अपने जीवन का मूल मन्त्र समझ लेता है और उसी के भोग में अपने आप को जुटा देता है तो वह पशु से भी नीचे चला जाता है, उससे अधिक हिंस्र और भयानक बन जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि वह जाने कि वह क्या है, उसके जीवन का उद्देश्य क्या है और प्रकृति का वह कौन-सा मर्मभूत प्रश्न है जिसका निदान ढूंढती वह जड़ से प्राण और प्राण से मनोमय लोक तक आयी है और आज चेतना के इस धरातल पर इतने संकटों से घिरी दिखलायी पड़ती है। लेकिन ऐसा करते हुए हमें थोड़ा सतर्क भी होना होगा। जड़ बुद्धि की यह स्थापना कि मूलत: सभी जड़ हैं, उसका यह दावा कि मानव का सर्वोच्च पुरुषार्थ है अपने लिए भोगों को जुटा लेना और अन्तर की उस अभीप्सा को जो अमृत चाहती है किसी तरह यह समझा देना कि जड़ विश्व में प्राण एक अल्पकालिक घटना है और अमरता के लिए किया गया हर प्रयत्न ही विफल होने को बाध्य है, हमें छोड़ना होगा; हमें दूसरी राह पकड़नी होगी। श्रीअरविन्द ने हमें यही राह दी है। उनकी दृष्टि में जगत यदि सचमुच अचेतन जड़ का ही हतबुद्धि-भर प्रसार है तो हम इसमें कोई भी तात्पर्य नहीं ढूंढ़ सकते। परन्तु वस्तुतः जड़ता के भीतर भी, निर्जीव पार्थिव तत्वों के भीतर भी महाप्रज्ञा का ही निगूढ़ वीर्य है जो कीट-पतंङ्ग से लेकर अणु- परमाणु तक को एक विराट अनुशासन से बाँधे हुए है। यह सही है कि इसकी क्रिया अन्ध और अचेतन है, सहज चालित-सी दीखती है, लेकिन सहज

चालित क्रिया का यह अन्धभाव अन्धा होते हुए भी व्यापक और वीर्यवान् है। और इसका कारण यह है कि जड़ तत्व भी, परम चेतन का ही आत्मगोपन स्वरूप है। मानव की सारी एषणा-वेदना का मर्म यही है कि दिव्य सत्ता का वह आत्मगोपन वीर्य जो जड़ता में डूबा हुआ है, जीवन की उन्मिषन्त विभूतियों मेंअपना प्रतिफलन ढूँढे जो इषत्प्रकाशित है वही अपने पूर्ण प्रकाश के लिए मानव को देवत्व की अविराम अभीप्सा से उदबुद्ध भी रखता है।

आज तक जीवन के इस दावे से हम कतराते रहे हैं। जीवन का मर्म हमने ढूंढा है, जीवन की ही गिरह काट कर। अमृत की साधना का अर्थ हमारे लिए यही रहा कि हम जीवन के प्रयोजन को ही भूल जायें। जीवन ही मृत्यु की भूमि है। इसीलिए जीवन के उस पार जाकर ही हमने अमृत का संधान किया। परन्तु इससे जीवन को तो कोई लाभ नहीं। हम जिसकी अमरता का शोध करते रहे वह तो अमृतमय है ही। आत्मा अमर है, फिर जीवन का उपयोग छोड़ आत्मा की अमरता में लौट जाने से तो वह प्रश्न असमाहित ही बचा रह गया जिसका समाधान ढूंढ़ने अमृतमय सत्ता ने जीवन की इस भूमि में प्रवेश किया था। जीवन का तात्पर्य सिद्धि नहीं, जीवन से मोक्ष ही यदि आत्मा के अन्नमय कोश परिग्रह का अन्तिम तात्पर्य था तो उसने इसे स्वीकारा ही क्यों था? क्या कोई अखाड़े में इसीलिए उतरता है कि जितना शीघ्र हो सके वह उससे भाग निकले?

श्रीअरविन्द ने हमें जीवन की इसी परिपूर्ण सिद्धि का सन्देश और मार्ग दिया है। जो चेतना आज मनोमय प्राणी में अर्द्ध स्फुट है उसी के पूर्ण विकास का पंथ उन्होंने हमें दिखाया है। और यह मात्र मार्ग-निर्देश ही नहीं है। स्वयं वे इस तपस्या के अग्रदूत रहे हैं। मनोमय चेतना के छायालोक के उस पार है दिव्य चेतना का दिवा प्रकाश। विश्व प्रकृति की साधना की यही उत्तर भूमि है। यही वह अतिमानसी चेतना है जिसमें जीवन को सर्वाङ्गतः उठा ले जाना श्रीअरविन्द के योग का तात्पर्य है। केवल आन्तरिक आलोक नहीं, जीवन का आमूलचूल रूपान्तरण ही श्रीअरविन्द के योग का लक्ष्य है। और इस रूपान्तरण का अर्थ है शरीर का भी रूपान्तर; मिट्टी की इसी देह में महेश्वर की अकुण्ठ महिमा का निरावरण प्रकाश। अमृततत्व का जो भोग समाधि के असंङ्ग प्रत्यय में आत्मा को मिलता है उसी की धारा से जीवन को सींच देना और इस क्लेश-क्लिष्ट भूमि को ही अमरता काधाम बना देना श्रीअरविन्द की साधना का उद्धेश्य है और है चेतना की उस साहसिक यात्रा का रहस्य जिसके लिए इसने अन्धकार में डुबकी लगायी थी और मृत्यु का वरण किया था ।

नयी गरिमा से मण्डित उभरता हुआ भारत
भगवान के लिए, जगत के लिए उठता हुआ भारत

15 अगस्त, 1947 को दिया गया श्रीअरविन्द का सन्देश

पंद्रह अगस्त स्वाधीन भारत का जन्म-दिन है। यह दिन भारतवर्ष के लिए एक प्राचीन युग का अन्त और एक नवीन युग का प्रारम्भ सूचित करता है। परन्तु यह दिन केवल हमारे लिए ही नहीं वरन् एशिया के लिए और समस्त संसार के लिए भी एक अर्थ रखता है; और वह अर्थ यह है कि इस दिन संसार के राष्ट्र-समाज के अन्दर एक नयी राष्ट्र-शक्ति प्रवेश कर रही है जिसमें अगणित सम्भावनाएं निहित हैं और जिसे मनुष्य जाति के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भविष्य की रचना करने में एक महान कार्य करना है। व्यक्तिगत रूप से तो मुझे इस बात से स्वभावतः ही प्रसन्नता होगी कि जो दिन, मेरा अपना जन्म-दिन होने के कारण, केवल मेरे लिए ही स्मरणीय था और जिसे वे ही लोग प्रतिवर्ष मनाया करते थे जिन्होंने जीवन सम्बन्धी मेरी शिक्षा को स्वीकार किया है, उसी दिन को आज इतना विशाल अर्थ प्राप्त हुआ है। एक अध्यात्मवादी के नाते मैं इन दोनों दिनों के एक हो जाने को केवल एक संयोग या आकस्मिक घटना नहीं मानता, बल्कि मैं यह मानता हूँ कि इसके द्वारा भागवत शक्ति-जो मेरा पथप्रदर्शन करती है-उस कार्य के लिए अपनी स्वीकृति दे चुकी है तथा उस पर उसने अपने आशीर्वाद की मुहर लगा दी है जिसको लेकर मैंने अपना जीवन प्रारम्भ किया था। वास्तव में संसार के वे प्रायः सभी आन्दोलन, जिन्हें मैंने अपने जीवनकाल में ही सफल होते हुए देखने की आशा की थी और जो उस समय असम्भव स्वप्न-से ही प्रतीत होते थे, आज मैं देख रहा हूं कि, या तो वे अपनी सफलता के समीप पहुँच रहे हैं या उनका कार्य प्रारम्भ हो गया है और वे अपनी सफलता के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं।

आज के इस महान् अवसर पर मुझसे एक सन्देश मांगा गया है। परन्तु अभी सम्भवतः मैं कोई सन्देश देने की स्थिति में नहीं हूँ। अधिक-से-अधिक आज मैं उन उद्देश्यों और आदर्शों को व्यक्तिगत रूप से घोषणा भर कर सकता हूँ जिन्हें मैंने अपने बाल्य और युवाकाल में अपनाया था और जिन्हें अब मैं सफलता की ओर जाते हुए देख रहा हूँ; क्योंकि भारत की स्वाधीनता के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है-वे उस कार्य का ही एक अंग है जिसे मैं भारत का भावी कार्य मानता हूँ और जिसमें भारत नेता का स्थान ग्रहण किये बिना नहीं रह सकता। मैं बराबर से ही यह मानता और कहता आ रहा हूँ कि भारत उठ रहा है और वह केवल अपने ही भौतिक स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए नहीं, अपनी ही प्रसारता, महत्ता, सामर्थ्य और सम्पद अर्जन करने के लिए नहीं यद्यपि इन सबकी भी उसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिये-और निश्चय ही अन्य राष्ट्रों की तरह दूसरी-दूसरी जातियों पर अधिकार स्थापित करने के लिए नहीं, बल्कि भगवान के लिए, जगत् के लिए, समस्त मानव जाति के सहायक और नेता के रूप में जीवन-यापन करने के लिए उठ रहा है। वे उद्देश्य और आदर्श अपने स्वाभाविक क्रम में इस प्रकार हैं :

१. एक क्रान्ति, जिसके द्वारा भारत को स्वतन्त्रता और एकता प्राप्त हो।

२. एशिया का पुनः जागरित होना और स्वाधीन होना तथा मानव सभ्यता की क्रमोन्नति के लिए उसने एक समय जैसे महान कार्य किया था वैसे ही फिर से उसका कार्य करने लगना।

३. मनुष्य जाति के लिए एक नवीनतर, महत्तर, उज्ज्वलतर और उन्नततर जीवनधारा का विकास, अपनी सम्पूर्ण सिद्धि के लिए बाह्यतः सभी जातियों की पृथक-पृथक सत्ता के एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण पर निर्भर करेगा जो एकीकरण विभिन्न जातियों के राष्ट्रीय जीवन को तो सुरक्षित और अक्षुण्ण रखेगा पर उन्हें एक सर्वोपरि और अन्तिम एकता के अन्दर एक साथ बाँध रखेगा।

४. भारत को, समस्त मनुष्य जाति को अपना आध्यात्मिक ज्ञान और जीवन को आध्यात्मिक बनाने की साधना प्रदान करना। और अन्त में,

५. क्रमविकास के अन्दर एक पग और आगे बढ़ जाना, जिसके फलस्वरूप चेतना एक उच्चतर स्तर में ऊपर उठ जायेगी और जीवन की उन अगणित समस्याओं का समाधान होना प्रारम्भ हो जायेगा जो मनुष्य को तब से व्यथित और विभ्रांत कर रही हैं जबसे उसने व्यक्तिगत पूर्णता तथा सर्वांग-सुन्दर समाज के विषय में चिन्तन करना और स्वप्न देखना प्रारम्भ किया है।

भारत स्वतन्त्र हो गया है पर उसने एकता नहीं प्राप्त की है, केवल टूटी-फूटी , छिन्न-भिन्न स्वतन्त्रता ही उसने प्राप्त की है। एक समय तो प्रायः ऐसा ही मालूम होता था कि वह फिर से अलग-अलग राज्यों की उस अस्त-व्यस्त अवस्था में ही जा गिरेगा जो अवस्था अंगरेजों की विजय के समय थी। परन्तु सौभाग्यवश अब एक ऐसी प्रबल सम्भावना उत्पन्न हो गयी है जो उसे उस विपज्जनक अवस्था में गिर जाने से बचा लेगी। विधान परिषद् की कौशलपूर्ण प्रबल नीति ने यह सम्भव बना दिया है कि पददलित जातियों का प्रश्न बिना किसी विरोध या मतभेद के हल हो जायेगा। परन्तु हिन्दू और मुसलमानों का पुराना साम्प्रदायिक विभेद मानो इतना घना हो गया है कि उसने

> आशा है कि वह (देश का विभाजन) या तो विरोध की तीव्रता के धीरे-धीरे कम होने से दूर होगा या शन्ति तथा मेल-मिलाप की आवश्यकता को क्रमश: हृदयंगम करने से होगा..... परन्तु चाहे जिस किसी उपाय से क्यों न हो, विभाजन अवश्य दूर होना चाहिए और वह दूर होकर ही रहेगा।..... क्योंकि एकीकरण प्रकृति की धारा के अन्दर एक आवश्यक चीज है, एक अनिर्वाय गाति है और इसकी समृद्धि के विषय में नि:सन्देह भविष्यवाणी की जा सकती है।

देश के एक स्थायी राजनीतिक विभाजन का ही रूप धारण कर लिया है। हम आशा करते हैं कि कांग्रेस और हमारे देशवासी इस निर्णय को स्थायी निर्णय नहीं मानेंगे अथवा एक सामयिक व्यवस्था से अधिक और कुछ नहीं समझेगे; क्योंकि, अगर यह विभाजन बराबर बना रहा तो भारत बुरी तरह दुर्बल हो सकता है और यहाँ तक कि पंगु भी हो सकता है। फिर गृहकलह की सम्भावना बराबर ही बनी रह सकती है और यह भी सम्भव हो सकता है कि इस पर बाहर से आक्रमण हो और यहाँ फिर से विदेशी राज्य स्थापित हो जाये। अतएव देश का विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये। आशा है कि वह या तो विरोध की तीव्रता की घोरे-धीरे कम होने से दूर होगा या शांति तथा मेल-मिलाप की आवश्यकता को क्रमशः हृदयंगम करने से होगा अथवा एक कार्य को एक साथ मिलकर करने की सतत् आवश्यकता को, यहाँ तक कि उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एकत्वसाधक एक यन्त्र की आवश्यकता को अनुभव करने से होगा। इस तरह एकता स्थापित हो सकती है, भले ही उसका रूप चाहे जो है-उसके वास्तविक स्वरूप का कोई व्यावहारिक मूल्य भले ही हो, तत्त्वतः उसका कोई मूल्य नहीं।

परन्तु चाहे जिस किसी उपाय से क्यों न हो, विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये और यह दूर होकर ही रहेगा। क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो भारत का भविष्य बुरी तरह क्षुण्ण हो सकता है और विनष्ट तक हो सकता है। परन्तु वैसा कभी नहीं होने देना चाहिये।

एशिया जग गया है और उसके अधिकांश भाग स्वतन्त्र हो गये हैं अथवा इस समय स्वतन्त्र हो रहे हैं; उसके अन्य भाग जो अभी परतन्त्र हैं, चाहे कितने भी संघर्ष में से क्यों न हो, वे भी स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो रहे है। बस, थोड़ा-सा ही कार्य बाक़ी है और वह आज या कल पूरा हो जायेगा। इस क्षेत्र में भी भारत को कुछ कार्य करना है और उस कार्य को उसने एक ऐसी शक्ति और योग्यता के साथ करना प्रारम्भ कर दिया है कि वह इस बात को सूचित कर रही है कि उसके अन्दर क्या-क्या सम्भावनाएँ निहित हैं तथा विश्व की राष्ट्रपरिषद् में वह कौन-सा स्थान ग्रहण करेगा। मनुष्य जाति का एकीकरण आरम्भ हो गया है, यद्यपि उसका प्रारम्भ दोषपूर्ण है। एक बाह्य व्यवस्था स्थापित हुई है पर महान् कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा है। परन्तु वेग उसमें है और, यदि इतिहास के अनुभव को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया जाये तो, वह अनिवार्य रूप से तब तक बढ़ता जायेगा जब तक वह अपना काम पूरा नहीं कर लेता। इस विषय में भी भारत ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है और यदि वह उस विशालतर राजनीतिज्ञता को विकसित करे जो आधुनिक घटनाओं तथा निकटतर सम्भावनाओं से ही सीमित नहीं होती बल्कि भविष्य को भी देखती तथा उसे निकटतर ले आती है तो, उसकी उपस्थिति इस बात को स्पष्ट दिखा सकती है कि एक मंथर और सशंक गति तथा एक क्षिप्र और निर्भीक गति में क्या अन्तर होता है। सम्भव है कि इस क्षेत्र में कोई उपद्रव हठात् उठ खड़ा हो और जो कुछ किया जा रहा है उसे रोक दे या नष्ट कर दे, किन्तु फिर भी इसका अन्तिम फल सुनिश्चित है; क्योंकि, चाहे जो हो, एकीकरण प्रकृति की धारा के अन्दर एक आवश्यक चीज है, एक अनिवार्य गति है और इसकी समृद्धि के विषय में निस्सन्देह भविष्यवाणी की जा सकती है। इसकी आवश्यकता सभी राष्ट्रों को है-यह भी स्पष्ट है; क्योंकि इसके बिना छोटी-छोटी जातियों की स्वतन्त्रता अब कभी निरापद नहीं रह सकती और बड़े-बड़े तथा शक्ति शाली राष्ट्र तक भी वास्तव में कभी सुरक्षित नहीं रह सकते। अगर भारत विभक्त बना रहा तो वह स्वयं अपनी रक्षा के विषय में भी निस्सन्देह नहीं हो सकता। अतएव इसी बात में सबकी भलाई है कि एकता स्थापित हो। एकमात्र मनुष्य की घोर असमर्थता तथ मूढ़ स्वार्थपरता ही उसे रोक सकती है। मनुष्य के इन दुर्गुणों के सामने, कहते हैं कि देवताओं का प्रयास भी व्यर्थ हो जाता है। परन्तु प्रकृति की आवश्यकता तथा भागवत संकल्प के विरुद्ध ये चीजें भी बराबर नहीं टिक सकतीं। इस तरह राष्ट्रीयता अपनी पूर्णता को प्राप्त करेगी; एक अन्तर्राष्ट्रीय भाव ओर दृष्टि उत्पन्न होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएं और संस्थाएँ गठित होंगी। यहाँ तक कि ऐसे परिवर्तन भी उपस्थित हो सकते हैं जिनके कारण एक आदमी एक साथ ही दो देशों या कई देशों की नागरिकता को प्राप्त करे और परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्दर विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ स्वेच्छापूर्वक एक-दूसरी के साथ घुल-मिलकर एक हो जायें और राष्ट्रीयता का भाव अपनी युद्धप्रियता को त्यागकर यह अनुभव करने लगे कि वह अपनी निजी दृष्टि को अक्षुण्ण रखते हुए भी इन सब चीजों को पूर्ण मात्रा में ग्रहण कर सकता है। एकता का एक नवीन भाव समस्त मनुष्य जाति को अभिभूत कर डालेगा। भारत ने सारे संसार को अपना आध्यात्मिक दान देना प्रारम्भ कर दिया है। भारत की आध्यात्मिकता यूरोप और अमेरिका में अधिकाधिक मात्रा में प्रवेश कर रही है। इसकी गति दिन-दिन बढ़ती ही जायेगी। इस युग की दुर्घटनाओं के बीच लोगों की आँखें आशा के साथ अधिकाधिक उसकी ओर मुड़ रही हैं और लोग केवल उसके शास्त्रों का ही नहीं वरन् उसकी आन्तरिक और आध्यात्मिक साधना का भी अधिकाधिक आश्रय ग्रहण कर रहे हैं ।

अब जो बाक़ी है वह अभी तक व्यक्तिगत आशा, भावना और आदर्श की ही बात है। पर इसको भारत में तथा पाश्चात्य देशों में

उन लोगों ने धीरे-धीरे ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया है जिनकी बुद्धि भविष्य को देखने में समर्थ है। अवश्य ही मानव प्रयास के अन्यान्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में कहीं अधिक कठिनाइयाँ मौजूद हैं, परन्तु कठिनाइयाँ पार करने के लिए ही बनी हैं और यदि इसके लिए परम प्रभु ने संकल्प किया है तो वे पार की ही जायेंगी। यहाँ भी, अगर यह क्रमविकास साधित होने को है, तो, और चूंकि यह आत्मा में तथा आन्तर चेतना में क्रमश : वर्द्धित होने से ही साधित हो सकता है इसलिए, इसका भी सूत्रपात भारत में ही हो सकता है।

आज भारत के स्वाधीनता-दिवस के साथ में इन्हीं भावनामों को युक्त कर रहा हूँ। पर ये सब भावनाएँ सिद्ध होंगी या कहाँ तक अथवा कितना शीघ्र सिद्ध होंगी-यह सब इस नवीन और स्वतंत्र भारत पर निर्भर करता है।

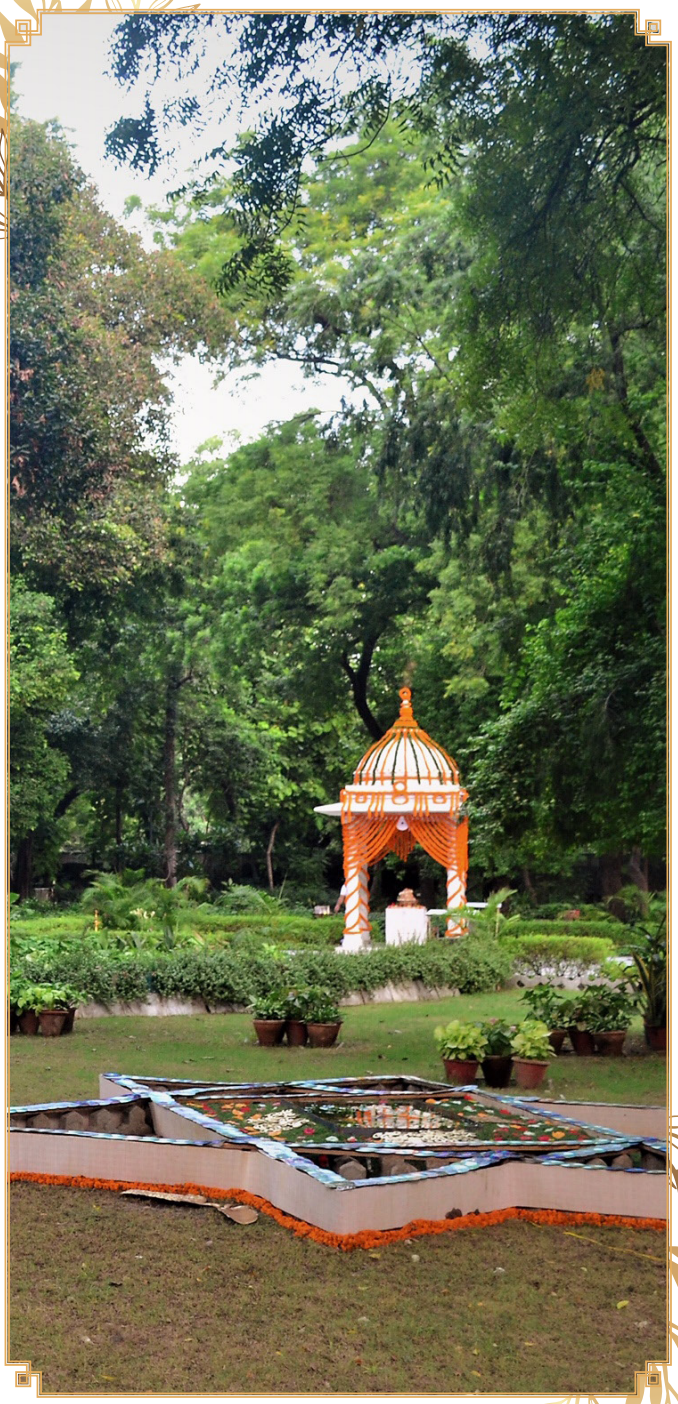

सादा जीवन

सादा जीवन ऐसे जीवन से जो फिजूल खर्ची, दिखावे और मिथ्यभिमान पर अवलम्बित है, कही अधिक वांछनीय है। संसार की उन्नति में अपना जीवन उत्सर्ग करने वाले श्रेष्ठ और उत्साही मनुष्य सदा ही शान्ति और मितव्ययता से रहना जानते हैं। ऐसा जीवन शरीर को भी स्वस्थ रखता है और मनुष्य को सर्वहित के कार्य में अधिकाधिक भाग लेने के योग्य बनाता है। ऐसे उदाहरणो से उन लोगो के सिर लज्जा से झुक जाते हैं जिन्होंने अपने न्हिों चारो ओर निरर्थक चीजें जमक कर रखी हैं। और वे स्वयं भी अपने नौकर-चाकरो के दास कें अतिरिक्त और कुछ नही हो ते। बिना गढ़ा खोदे टीला नही खड़ा किया जा सकता। एक का धन ऐश्वर्य प्रायः दूसरो की दुर्दशा का कारण होता है। इस संसार में बहुत से सुन्दर, महान तथा उपयोगी काम करना पड़े हैं। फिर यह कै से संभव है कि ऐसे लोग जिनमें बुध्दि का सर्वथा अभाव नही है अपना समय, पैसे और विचारो को अनुपयोगी कार्यो में खर्च कर दें।

-श्रीमाँ

भारतीय संस्कृति का मूल तत्व और प्रणाली

-श्रीअरविन्द

भारतीय धर्म के मूल तत्वों, इसके विकास के अभिप्राय तथा इसकी पद्धति की मूल भावना का मैंने कुछ विस्तार से विवेचन किया है-यद्यपि अभी यह वर्णन बहुत अधूरा ही है-क्योंकि इन चीजों की निरन्तर उपेक्षा की जा रही है और इस धर्म का समर्थन तथा विरोध करनेवाले लोग ब्योरों, विशिष्ट परिणामों और गौण विषयों पर ही लड़ते-झगड़ते रहते हैं। इन बातों का भी अपना महत्व तो है क्योंकि ये क्रियात्मक अनुशीलन के, अर्थात संस्कृति को जीवन में कार्यान्वित करने के अंग हैं; किन्तु इनका सही मूल्यांकन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक हम उस मूल भावना को भली-भाँति हृदयंगम न कर लें जो उस क्रियात्मक अनुशीलन के पीछे विद्यमान थी। और सबसे पहली बात जो हम देखते हैं वह यह है कि भारतीय संस्कृति का मूल तत्व एवं सारभूत भाव असाधारण रूप से उच्च, महत्वाकांक्षापूर्ण और श्रेष्ठ था, सच पूछो तो वह एक उच्चतम तत्व और भाव था, जिसकी मानव आत्मा कल्पना कर सकती है। कारण, जीवन के विषय में उससे महान विचार और क्या हो सकता है जो इसे मानवात्मा के अत्यन्त विशाल रहस्य तथा उच्च सम्भावनाओं तक होनेवाले उसके एक विकास का रूप दे देता है-उससे महान संस्कृति और क्या हो सकती है जो जीवन को काल में कालातीत की, व्यक्ति में विराट को, सान्त में अनन्त की एवं मनुष्य में भगवान की क्रिया समझती है अथवा जो यह मानती है कि मनुष्य सनातन और अनन्त को केवल जान ही नहीं सकता बल्कि उसकी शक्ति में निवास भी कर सकता है और आत्मज्ञान के द्वारा अपने-आपको विश्वमय, आध्यात्मिक और दिव्य भी बना सकता है! मनुष्य के जीवन के लिए इससे बढ़कर महान लक्ष्य और क्या हो सकते हैं कि वह अंतर और बाह्य अनुभव के द्वारा अपना तब तक विकास - साधन करे जब तक कि वह परमेश्वर में निवास करने, अपनी अध्यात्म सत्ता को अनुभव करने, अपनी उच्चतम सत्ता के ज्ञान, संकल्प और आनन्द में पहुंचकर दिव्य बनने में समर्थ न हो जाये। वास्तव में भारतीय संस्कृति के प्रयास का सम्पूर्ण आशय यही है।

यह कहना आसान है कि ये विचार मिथ्या, काल्पनिक और अव्यवहार्य हैं। वास्तव में न तो कोई आत्मा है न सनातन सत्ता और न कोई दिव्य वस्तु ही, और यदि मनुष्य धर्म और दर्शनशास्त्र के साथ खेल न कर अपने क्षणिक एवं तुच्छ जीवन और शरीर का यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा उपयोग करे तो यह उसके लिए कहीं अच्छा होगा। यह एक ऐसा निषेध है जो प्राणिक और भौतिक मन के लिए प्रायः स्वाभाविक ही है , पर यह इस धारणा पर आश्रित है कि मनुष्य केवल वही बन सकता है जो वह इस क्षण है और उसमें ऐसी महत्तर वस्तु नहीं है जिसे विकसित करना उसका कर्तव्य है; ऐसे निषेध का कोई मूल्य नहीं है। किसी महान संस्कृति का सम्पूर्ण लक्ष्य यह होता है कि वह मनुष्य को किसी ऐसी स्थिति तक उठा ले जाये जो वह प्रारम्भ में नहीं होता, उसे ज्ञान की ओर ले चले, यद्यपि वह अथाह अज्ञान से ही अपनी यात्रा शुरू करता है। उसे उसके विवेक के द्वारा जीवन बिताना सिखाये यद्यपि वास्तव में वह, कहीं अधिक अपने अविवेक के द्वारा ही जीवन-यापन करता है, शुभ और एकत्व के विधान द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि आज वह अशुभ और वैषम्य से ही भरा हुआ है, सुन्दरता और जीना समस्वरता के विधान के द्वारा जीना सिखाये यद्यपि उसका यथार्थ जीवन कुरुपता और कलहरत बर्बरताओं का घृणाजनक घोटाला ही है, उसे उसकी आत्मा के किसी उच्च विधान के द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि इस समय वह अहंभावपूर्ण भौतिक एवं अनाध्यात्मिक है और अपनी स्थूल सत्ता की आवश्यकताओं और कामनामों में ही ग्रस्त है। यदि किसी सभ्यता का इनमें से कोई भी लक्ष्य न हो, तो कदाचित् यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसकी कोई संस्कृति है और निश्चय ही यह तो किसी भी अर्थ में नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक महान और श्रेष्ठ संस्कृति है। परन्तु इनमें से अंतिम लक्ष्य, अपने उस रूप में जिसकी कल्पना प्राचीन भारत ने की थी, सब लक्ष्यों से ऊँचा है क्योंकि वह अन्य सभी को अपने अन्दर लिये हुए है और साथ ही उन सबसे श्रेष्ठ भी है। इस प्रयत्न को सम्पन्न करना जाति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है। इसमें असफल होना इसके लिए कभी बिल्कुल ही प्रयत्न न करने से कहीं अच्छा है। इसमें थोड़ी सी भी सफलता प्राप्त करना मनुष्य की भावी सम्भावनाओं के पूरा होने में महान सहायता प्रदान करना है।

भारतीय संस्कृति की प्रणाली एक और ही वस्तु है। प्रणाली, स्वरूपतः ही, मूलभाव को क्रियान्वित करनेवाली और साथ ही सीमित करनेवाली होती है। और फिर भी हमारे पास जीवन की एक विद्या एवं कला, अर्थात् जीवन-यापन की एक प्रणाली अवश्य होनी चाहिये। जरूरत केवल इस बात की है कि जो भी रूप-रेखाएं निर्धारित की जायें वे व्यापक और उदात्त हों, विकसित होने की क्षमता रखती हों जिससे कि मूल भावना अपने-आपको जीवन में अधिकाधिक प्रकट कर सके, अपनी दृढ़ता के होते हुए भी नमनशील हों ताकि वह नयी चीजों को अपने अन्दर आत्मसात् और समन्वित कर सकें तथा अपनी एकता खोये बिना अपनी विविधता और समृद्धता को विस्तारित कर सकें। भारतीय संस्कृति की प्रणाली अपने सिद्धान्त रूप में और एक विशेष सीमा तथा विशेष समय तक अपने क्रियात्मक रूप में भी यह सब-कुछ थी। यह सर्वथा सत्य है कि अन्त में उस पर एक ऐसे ह्रास का और प्रगति के एक इस प्रकार के अवरोध का आक्रमण हुआ जो बिलकुल चरम ढंग का तो नहीं था पर उसके जीवन तथा भविष्य के लिए अत्यन्त गम्भीर और संकटपूर्ण अवश्य था और हमें यह पता लगाना होगा कि क्या इसका कारण इस संस्कृति का मज्जागत

स्वभाव था या इसकी कोई विकृति थी अथवा जीवनी-शाक्ति का कोई बाणिक ह्रास था धीर यदि ह्रास ही कारण था तो वह ह्रास आया कैसे? इस समय में केवल सरसरी और पर एक बात की चर्चा करूंगा जो अपना कुछ महत्व रखती है। हमारा आलोचक भारत के दुर्भाग्यों का राग अलापते कभी नहीं थकता और उन सबका कारण वह हमारी सभ्यता की असाध्य बुराई तथा सच्ची और स्वस्थ संस्कृति के नितान्त प्रभाव को मानता है। परन्तु न तो दुर्भाग्य संस्कृति के प्रभाव का प्रमाण होता है और न सौभाग्य उद्धार का चिह्न। यूनान एक अभागा देश था; वह आन्तरिक कलह और गृह-युद्धों से उतना ही क्षत-विक्षत था जितना भारत, वह अन्त में एकता पर पहुँचने या स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने में असमर्थ हुआ; तथापि यूरोप अपनी आधी सभ्यता के लिए यूनान के उन लड़ाकू और विभक्त क्षुद्र लोगों का ही ऋणी है। इटली निश्चय ही काफी अभागा था, तथापि बहुत ही कम राष्ट्रों ने यूरोपीय संस्कृति को अयोग्य और अभाग्य इटली से अधिक अंशदान दिया है। भारत के दुर्भाग्यों को कम-से-कम उनके प्रभाव क्षेत्र की दृष्टि से, बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है, पर उन्हें उनके बुरे-से बुरे रूप में ही लो और मान लो कि भारत से अधिक किसी पर मुसीबतें नहीं आयीं। परन्तु इस सबका कारण यदि हमारी सभ्यता की खराबी ही हो तो दुर्भाग्यों के इस बोझ के नीचे भारत और उसकी संस्कृति एवं सभ्यता के दृढ़तापूर्वक बचे रहने के विलक्षण तथ्य का अथवा उस शक्ति का भला क्या कारण है जो इस क्षण भी उसे यूरोप से आनेवाली बाढ़ के, जिसने अन्य जातियों को लगभग डुबा ही दिया है, भीषण आघात के विरुद्ध अपने अस्तित्व तथा अपनी भावना का प्रबल समर्थन करने की क्षमता प्रदान करती है जिसे देखकर उसके आलोचक क्रोध से भर उठते हैं। यदि उसके दुर्भाग्यों का कारण उसके सांस्कृतिक दोष हों तो क्या इसी प्रकार के तर्क के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस असाधारण जीवन-शक्ति का कारण उसके अन्दर विद्यमान कोई महान शक्ति, उसकी भावना के अन्दर विद्यमान कोई स्थाई सत्यतारूपी गुण अवश्य होगा। कोई कोरा झूठ और पागलपन जीवित नहीं रह सकता, उसका बने रहना एक ऐसा रोग है जो निःसन्देह शीघ्र ही मृत्यु की ओर ले जायेगा; वह किसीअवि नश्वर जीवन का स्रोत नहीं हो सकता। कहीं स्वस्था का कोई ऐसा केन्द्र, कोई ऐसा रक्षक सत्य अवश्य होना चाहिये जिसने इस जगत को जीवित रखा है और जो आज भी इसे अपना सिर ऊँचा करने तथा अपने बने रहने के संकल्प को और अपने जीवन - कार्य के प्रति अपनी श्रद्धा को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने के लिए सामर्थ्य प्रदान करता है।

परन्तु, अन्त में हमें इस संस्कृति के मूलभाव और मूलतत्व को ही नहीं, इनकी प्रणाली में निहित इसके उद्देश्य के आदर्श विचार और क्षेत्र को ही नहीं बल्कि जीवन के मूल्यों में इसके यथार्थ क्रिया-व्यापार और प्रभाव को भी देखना होगा। यहाँ हमें इसकी भारी सीमाओं और भारी त्रुटियों को स्वीकार करना होगा। ऐसी कोई संस्कृति नहीं, कोई सभ्यता नहीं; भले वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, जो अपनी प्रणाली में मनुष्य की पूर्णता की मांग के लिए पूर्णरूपेण संतोषजनक रही हो और जिसकी क्रिया प्रक्रिया काफी अधिक सीमाओं और त्रुटियों के द्वारा कुंठित न हो गयी हो। और किसी संस्कृति का लक्ष्य जितना अधिक महान होगा, किसी सभ्यता का आकार जितना अधिक विशाल होगा, उसमें ये दोष दृष्टि को उतना ही अधिक अभिभूत करने वाले हो सकते हैं। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक संस्कृति अपने गुणों की सीमाओं या त्रुटियों से आक्रान्त रहती है और इसके निश्चितप्राय परिणाम के रूप में, अपने गुणों की प्रतियों से भी पीड़ित होती है। उसकी प्रवृत्ति कुछ प्रमुख विचारों पर ध्यान एकाग्र करने और दूसरों को दृष्टि से ओझल करने या अनुचित रूप से दबाने की रहती है; संतुलन का यह अभाव एकांगी प्रवृत्तियों को जन्म देता है जिन्हें ठीक तरह से काबू में नहीं रखा जाता और न उचित स्थान दिया जाता है और जो अस्वास्थ्यकर अतियों को पैदा करती हैं। परन्तु जब तक सभ्यता में तेज बना रहता है तब तक जीवन अपने को उसके अनुकूल बनाता रहता है और क्षति पूरक शक्तियों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है तथा सब स्खलनों, बुराइयों और विपत्तियों के रहते हुए भी कुछ महान् कार्य सम्पन्न हो जाता है; परन्तु अवनति के समय किसी एक विशेष गुण की त्रुटि अति प्रबल हो जाती है, एक बीमारी का रूप धारण कर लेती है, व्यापक रूप में हानि पहुँचाती है और यदि उसे रोका न जाये तो क्षय और मृत्यु की ओर ले जा सकती है। फिर यह भी हो सकता है कि आदर्श महान हो, यहाँ तक कि उसमें एक प्रकार की सामयिक पूर्णता भी हो, जैसी कि भारतीय संस्कृति में उसके सर्वश्रेष्ठ काल में थी, उसने एक व्यापक सामंजस्य के लिए प्रारम्भिक प्रयत्न भी किया हो, परन्तु आदर्श और जीवन के वास्तविक व्यवहार के बीच सदैव ही एक बड़ी भारी खाई होती है। उस खाई पर पुल बांधना या कम-से-कम उसे यथासम्भव छोटी बनाना मानव-प्रयास का सबसे कठिन अंश है। अन्त में, हमारी मानव जाति का विकास जो युगों डालने पर काफी के आर-पार दृष्टि डालने पर काफी आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, सब-कुछ कहे जाने के बाद भी एक मन्द और बाधाग्रस्त प्रगति है। प्रत्येक युग, प्रत्येक सभ्यता हमारी त्रुटियों के भारी बोझ को वहन करती है, बाद में आनेवाला प्रत्येक युग बोझ के कुछ भाग को उतार फेंकता है, पर अतीत के गुण का कुछ अंश भी खो बैठता है, अन्य खाइयाँ पैदा कर लेता है और नये पदस्खलनों के द्वारा अपने-आपको परेशान करता है। हमें लाभ-हानि की तुलना करनी होगी, वस्तुओं को उनके समग्र रूप में देखना होगा, यह देखना होगा कि हम किस ओर जा रहे हैं और एक विशाल लौकिक दृष्टि का उपयोग करना होगा; अन्यथा मनुष्य जाति की भवितव्यताओं में अविचल श्रद्धा बनाये रखना कठिन हो जायेगा। कारण, अन्ततः अब तक सर्वश्रेष्ठ युग में भी हमने मुख्य रूप से जो कुछ सम्पन्न किया है वह है बर्बरता के एक बहुत बड़े स्तूप को परिवर्तित करने के लिए थोड़ी-सी कुछ बुद्धि, संस्कृति और आध्यात्मिकता को लाना। मनुष्य जाति अब तक भी अर्द्ध सभ्य से अधिक नहीं है और अपने वर्तमान विकास-चक्र के अभिलिखित इतिहास में वह इसके सिवाय और कुछ नहीं रही।

और इसलिए प्रत्येक सभ्यता अपने बाह्य रूप में मिश्रित और विशृंखल दिखायी देती है और एक द्वेषपूर्ण या सहानुभूतिहीन आलोचना के द्वारा, जो इसके दोषों को तो देखती और बड़ा-चढ़ाकर दिखाती है पर इसके सच्चे भाव एवं गुणों की उपेक्षा करती है, अन्धकारमय पहलुओं का तो एक ढेर खड़ा कर देती है पर प्रकाशमय पहलुओं को एक किनारे कर देती है। इसे बर्बरता के एक स्तूप में, प्रायः खूब गहरे अन्धकार और असफलता के एक चित्र के रूप में परिणत किया जा सकता है, जिस पर कि उन लोगों को उचित ही आश्चर्य होता और क्रोध आता है जिन्हें इसके मूल भाव महान और यथार्थ मूल्य युक्त प्रतीत होते हैं। क्योंकि प्रत्येक सभ्यता ने मानवता के लिए इसके सर्वसामान्य सांस्कृतिक कार्य के अन्तर्गत, कोई-न-कोई से विशेष मूल्यवाली वस्तु उपलब्ध की है, हमारी प्रकृति की किसी-न-किसी शक्यता को बहुत बड़ी मात्रा में प्रकट किया है और इसकी भावी पूर्णता के लिए एक आरम्भिक विस्तृत आधार प्रदान किया है। यूनान ने बौद्धिक तर्क को तथा आकार और सुसमंजस सौंदर्य सम्बन्धी बोध को एक ऊँचे परिमाण में विकसित किया; रोम ने बल-सामर्थ्य, देशभक्ति और विधि-व्यवस्था को सुदृढ़ स्थापना की; आधुनिक यूरोप ने व्यावहारिक बुद्धि, विज्ञान, कार्यदक्षता और आर्थिक क्षमता को विपुल परिमाण में उन्नत किया; भारत ने मनुष्य की अन्य शक्तियों पर क्रिया करने तथा उन्हें अतिक्रम करनेवाले आध्यात्मिक मन, अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि, धार्मिक भाव से अनुप्राणित 'धर्म' के दार्शनिक सामंजस्य तथा सनातन एवं अनन्त के बोध का विकास किया। भविष्य को इन वस्तुओं की एक अधिक महान और अधिक पूर्ण रूप से व्यापक प्रगति की ओर अग्रसर होना है और नयी शक्तियों का विकास करना है, किन्तु यह कार्य हम अहंकारपूर्ण असहिष्णुता के भाव के साथ अतीत की या अपनी संस्कृति से भिन्न अन्य संस्कृतियों की निन्दा करके ठीक- ठीक रूप में नहीं कर सकते। हमें केवल शान्त आलोचना की भावना की ही नहीं बल्कि सहानुभूतिमय अन्तर्ज्ञान की एक दृष्टि की भी आवश्यकता है ताकि हम मानवता के अतीत और वर्तमान प्रयास में से उत्तम वस्तुओं का आहरण कर सकें और अपनी भावी उन्नति के लिए उनका अच्छे से अच्छा उपयोग कर सकें।

ऐसा होने पर भी, यदि हमारा आलोचक आग्रह करे कि भारत की अतीत संस्कृति अर्द्ध-बर्बर ढँग की थी तो इस पर मुझे तब तक कुछ भी आपत्ति न होगी जब तक यूरोपीय ढँग की संस्कृति की जिसे वह उसकी जगह धूर्त्ततापूर्वक हमारे ऊपर लादना चाहता है, इसी प्रकार की, उचित या अनुचित आलोचना करने की मुझे भी स्वतन्त्रता प्राप्त रहे। यूरोपीय सभ्यता इस प्रकार के मुँहतोड़ जवाब के लिए जो अवसर देती है मिस्टर आर्चर भी उन्हें अनुभव करते हैं और वे गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करते हैं कि ऐसा जवाब न दिया जाये; वे इस घिसी हुई उक्ति की शरण लेते हैं कि यह कहना कि 'तुम अपना चेहरा तो देख आओ Tu quoque!-कोई युक्ति नहीं है। निःसन्देह, यदि यह केवल भारतीय संस्कृति की निष्पक्ष आलोचना का प्रश्न होता जिसमें घृष्टतापूर्ण तुलनाएँ और आक्रमणात्मक दावे न होते तो ऐसा जवाब असंगत होता। परन्तु जब आलोचक एक दल में शामिल हो कर यूरोप की श्रेष्ठता के नाम पर भारतीय भावना और सभ्यता के सभी दावों को पैरों तले कुचल डालने की चेष्टा करता है तो यह जवाब सर्वथा उपयुक्त और प्रभावशाली तर्क बन जाता है। जब वह आग्रह करता है कि अनुगत शिष्यों की तरह पश्चिम का अनुसरण और अनुकरण करने के लिए हमें अपने स्वभाव' और संस्कृति का परित्याग कर देना चाहिये और इसके लिए युक्ति यह देता है कि भारत सांस्कृतिक पूर्णता को या स्वस्थ सभ्यता के आदर्श को प्राप्त करने में असफल रहा है तो हमें भी यह दिखलाने का अधिकार है कि यूरोप के खाते में भी कम-से-कम इतनी ही भद्दी असफलता जमा है और उसकी असफलता के मूल कारण भी वही हैं जो भारत की असफलता के हैं। विज्ञान, व्यावहारिक बुद्धि और कार्य कुशलता एवं अनियंत्रित आर्थिक उत्पादन ही जो मनुष्य को उसके तन और प्राण का दास, एक विशाल यन्त्र का एक पहिया, एक कमानी या एक कंटिया अथवा आर्थिक व्यवस्था रूपी शरीर का एक कोष बना देता है और बाँबी तथा मधुमक्खियों के छत्ते के आदर्श को मानवीय भाषा में परिवर्तित करता है, तो हमें भी यह पूछने का अधिकार है कि क्या यही हमारी सत्ता का सम्पूर्ण सत्य और सभ्यता का स्वस्थ या सम्पूर्ण आदर्श है। इस यूरोपीय संस्कृति का आदर्श, अपनी सब विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, कम-से-कम कोई अनुचित रूप में बढ़ाया हुआ लक्ष्य नहीं है और उसे चरितार्थ करना प्राचीन भारत के कठिन आध्यात्मिक आदर्श की अपेक्षा अधिक सुगम होना चाहिये। परन्तु भला यूरोपीय मन और जीवन का कितना-सा अंश सचमुच में बुद्धि के द्वारा नियंत्रित होता है और इस व्यावहारिक बुद्धि और कार्यदक्षता का अन्त में क्या परिणाम होता है? मानव-मन, अन्तरात्मा और जीवन को इसने किस पूर्णता तक पहुँचाया है? आधुनिक यूरोपीय जीवन की उग्र कुरुपता, इसकी दार्शनिक बुद्धि, रसात्मक सुन्दरता और धार्मिक अभीप्सा की न्यूनता, इसकी सतत चंचलता, इसका कठोर और उत्पीड़क यांत्रिक बोध, आंतरिक स्वाधीनता का अभाव, इसका हाल ही का महासंकट, भीषण वर्ग-युद्ध-ये सब ऐसी चीजें हैं जिन पर दृष्टि डालने का हमें अधिकार है। आर्चर के साथ स्वर मिलाते हुए इन्हीं पहलुओं का राग अलापना और आधुनिक आदर्शों के अधिक उज्ज्वल पहलू की उपेक्षा करना निश्चय ही अन्यायपूर्ण होगा। निःसन्देह, बहुत बरस पहले एक ऐसा समय था जब यूरोप की अतीत सांस्कृतिक उपलब्धि की सराहना करते हुए, उसका वर्तमान व्यावसायिक रूप मुझे एक ऐसी बुद्धिप्रधान आसुरिक बर्बरता प्रतीत होता था जिसका कि जर्मनी एक अत्यन्त प्रशंसित प्रतिरूप और सफल नायक था। जगत में परमात्मा की कार्य - शैलियों को देखने वाली एक अधिक व्यापक दृष्टि इस धारणा की एक पक्षीयता में संशोधन करती है, पर फिर भी इसमें एक सत्य निहित है जिसे यूरोप ने अपनी तीव्र वेदना की घड़ी में स्वीकार किया था, यद्यपि इस समय वहअपने क्षणिक आलोक को बिलकुल सहज में ही भूला हुआ-सा

प्रतीत होता है। मि. आर्चर तर्क करते है कि कम-से-कम पश्चिम अपनी बर्बरता के साथ संघर्ष करके उसमें से बाहर निकल आने का यत्न कर रहा है जबकि भारत अपनी त्रुटियों में ही जड़वत् बने रहने में सन्तुष्ट रहा है। यह असन्न भूतकाल का एक तथ्य हो सकता है। पर उससे हुआ क्या? यह प्रश्न तो अब भी बना हुआ है कि क्या यूरोप ही उस एकमात्र, पूर्ण या सर्वोत्तम मार्ग को अपना रहा है जो मानव-प्रयास के लिए खुला हुआ है और क्या भारत के लिए यही ठीक नहीं है कि वह पश्चिम के अनुभव से शिक्षा भले ही ग्रहण करे पर यूरोप का अनुकरण न कर अपनी मूल भावना और संस्कृति के सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त मौलिक तत्वों को विकसित करे और इस प्रकार अपनी जड़ता से बाहर निकल आये।

इस दिशा में भारत का सही और स्वाभाविक पथ इतने स्पष्ट रूप से हमारे सामने खुला पड़ा है कि इसका मूलोच्छेद करने के लिए मि. आर्चर को छिद्रान्वेषक के अपने चुने हुए पेशे में पग-पग पर सत्य को विकृत करना पड़ता है और ऐड़ी-चोटी का जोर लगाकर व्यर्थ में ही सम्मोहक सुझाव का इन्द्रजाल फिर-फिर फैलाना पड़ता है। वह इन्द्रजाल अब सदा के लिए छिन्न भिन्न हो चुका है, दीर्घ काल तक उसने हममें से बहुतों को अपनी तथा अपने अतीत की पूर्ण रूप से निन्दा करने और यह कल्पना करने के लिए प्रेरित किया था कि जीवन में भारतीय का बंधा सम्पूर्ण कर्तव्य बस यही है कि वह सभ्य बनानेवाले अंग्रेज की डोर में बंधा हुआ एक अनुकरणशील बन्दर

> प्रत्येक सभ्यता ने मानवता के लिए सांस्कृतिक कार्य के अंतर्गत कोई-न-कोई विशेष मूल्यवाली वस्तु उपलब्ध की है, हमारी प्रकृति को किसी-न-किसी शक्यता को बहुत बड़ी मात्रा में प्रकट किया है और इसकी भावी पूर्णता के लिए एक विस्तृत आधार प्रदान किया है। यूनान ने बौद्धिक तर्क को तथा आकार और सुसमंजस सौंदर्य सम्बन्धी बोध को एक ऊँचे परिमाण में विकसित किया; रोम ने बल-सामर्थ्य, देश-भक्ति और विधि-व्यवस्था की सुदृढ़ स्थापना की; आधुनिक यूरोप ने व्यावहारिक बुद्धि , विज्ञान, कार्यदक्षता और आर्थिक क्षमता को विपुल परिमाण में उन्नत किया और भारत ने मनुष्य की अन्य शक्तियों पर क्रिया करने तथा उन्हें अतिक्रम करनेवाले आध्यात्मिक मन, अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि, धार्मिक भाव से अनुप्राणित 'धर्म' के दार्शनिक सामंजस्य तथा सनातन एवं अनन्त के बोध का विकास किया।

बनकर उसके ढोल की आवाज पर नाचा करे। भारतीय संस्कृति के बचे रहने के दावे का विरोध, सर्वप्रथम और अत्यन्त मौलिक रूप में, उसके उन मूल विचारों और उसकी उन ऊँची चीजों के मूल्य को चुनौती देकर ही किया जा सकता है जो उसके आदर्श तथा स्वभाव के लिए और जगत को देखने के उसके तरीके के लिए अत्यन्त स्वाभाविक हैं। इसका एक तरीका है-आध्यात्मिकता के, सनातन एवं अनन्त को अनुभूति, आंतर आध्यात्मिक-अनुभव, दार्शनिक मन और भावना, धार्मिक लक्ष्यऔर अनुभूति, अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि और विश्वात्मभाव तथा आध्यात्मिक एकता के विचार के सत्य या मूल्य से ही इन्कार कर देना, और हमारे इस आलोचक की असली मनोवृत्ति यही है जो उसकी तीव्र निन्दा में पुनः पुनः प्रकट हो उठती है। परन्तु इसे वह संगत रूप में आद्योपान्त नहीं निभा सकता, क्योंकि यह उसे ऐसे विचारों और बोधों के संघर्ष में ला खड़ा करती है जिन्हें मानव - मन से जड़-मूल से नहीं उखाड़ा जा सकता। यह विचार यूरोप में भी कुछ काल के अज्ञानान्धकार के पश्चात् फिर से समर्थन प्राप्त करने लगे हैं। अतएव वह अपने-आपको बचाता है और यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि भारत में हमें, उसके शानदार अतीत और उसकी अच्छी-से-अच्छी अवस्था में भी कोई आध्यात्मिकता, कोई वास्तविक दर्शन, कोई सच्चा या ऊँचा धार्मिक भाव एवं बोधि-प्रज्ञा का कोई प्रकाश नहीं दीखता, उन महान वस्तुओं में से एक भी नहीं दीखती जिन्हें उसने अपनी अत्यन्त उत्कट अभीप्सा का लक्ष्य बनाया है। यह स्थापना काफी मूर्खतापूर्ण, स्वविरोधात्मक और उन लोगों को स्पष्ट साक्षी के विपरीत है जो इन विषयों पर प्रामाणिक सम्मति प्रकट करने के लिए उत्कृष्ट रूप से योग्य और अधिकारी हैं। अतएव वह तीसरे मोर्चे की स्थापना करता है जोकि दो असंगत और परस्पर विरुद्ध कथनों के मेल से बना है। उनमें से प्रथम यह है कि उस उच्चतर हिन्दू धर्म का जो इन महत्तर वस्तुओं से गठित है, भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और दूसरा यह है कि इसके विपरीत उसका एक अत्यन्त सर्वतोव्यापी, अत्यन्त अनिष्टजनक और पंगूकारक, आत्मनाशी और प्राणनाशी प्रभाव पड़ा है। अपने इस दोषारोपण को वह एक प्रभावशाली रूप देने का यत्न करता है और इसके लिए वह आक्रमण की इन सब असंगत दिशाओं को एकत्र जुटाकर इन सबसे एक ही निष्कर्ष निकालता है कि भारतीय संस्कृति सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही गलत, निकम्मी और मानव जीवन के सच्चे लक्ष्य के लिए हानिकारक है।

यह जो अंतिम स्थापना उसने की है केवल इसी पर अब हमें विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति के मूल विचारों का मूल्य नष्ट नहीं किया जा सकता और उनसे इन्कार करना भी निरर्थक है वे मनुष्य तथा उसकी प्रकृति की उच्चत्तम और गम्भीरतम गतिविधियों में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं और वहाँ धुंधले या स्पष्ट रुप में अपना स्वरुप स्पष्ट करने कि चेष्टा कर रही है। भारतीय संस्कृति की विलक्षणता केवल इस विशेषता में निहित है कि जो चीज अन्य अधिकतर संस्कृतियों में अस्पष्ट या अस्त-व्यस्त है या अपूर्ण रुप से प्रकट की गयी है उसे इसने वस्तुतः अधिक स्पष्ट करने, उसकी सभी सम्भावनाओं की थाह लेने, उसके पहलुओं और दिशाओं को निर्धारित करने तथा उसे मनुष्य जाति है। लिए एक सच्चे, सुनिश्चित, व्यापक और व्यवहार्य आदर्श के रूप में प्रस्थापित करने का यत्न किया है। हो सकता है कि उसका रूप सर्वथा पूर्ण न हो; हो सकता है कि उन रूप को अभी और अधिक व्यापक बनाने, सुधारने

तथा किसी और ढंग से गढ़ने को जरूरत हो, छूटी हुई वस्तुओं को प्रकट करने, रूप- रेखाओं और आकारों में हेर-फेर करने, बल देने और दिशा-निर्देश करने की भूलों को सुधारने की आवश्यकता हो; किन्तु एक दृढ़ और व्यापक आधार की स्थापना सिद्धान्त रूप में ही नहीं बल्कि ठोस क्रियात्मक रूप में भी की जा चुकी है। यदि सचमुच जीवन में पूर्ण सफलता ही इसके हाथ लगी हो-और यही एक बात विचारने की रह गयी है-तो इसका कारण इन दो में से कोई एक हो सकता है; या तो जीवन जैसा है इसके तथ्यों पर आदर्श को लागू करने में कोई बड़ी भारी मौलिक भूल हुई है या फिर जीवन तथ्यों को मानने से ही एकदम इन्कार किया गया है। तब शायद, दूसरे शब्दों में, जो कुछ हम हैं उससे पहले अधिक से अधिक लाभ उठाये बिना उस चीज पर आग्रह किया गया है जोकि हम अपनी सत्ता की किसी दुष्प्राप्य ऊंचाई पर बन सकते हैं। अनन्त तक हम केवल तभी। पहुँच सकते हैं। जब पहले हम सांत में विकसित हो लें, काल में विकसित होकर ही मनुष्य कालातीत को हृदयंगम कर सकता है, पहले अपने शरीर, प्राण और मन की पूर्णता प्राप्त करके ही मनुष्य अध्यात्म-सत्ता को पूर्ण बना सकता है।

यदि इस आवश्यकता की उपेक्षा की गयी है तब हम न्यायतः ही यह तर्क कर सकते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रधान विचार में एक मोटी, व्यवहार-विरोधी और अक्षम्य भूल हुई है। परन्तु वास्तव में ऐसी कोई भूल नहीं हुई है। हम देख ही चुके हैं कि भारतीय संस्कृति का लक्ष्य क्या था, उसकी भावना और प्रणाली क्या थी और उनसे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जायेगा कि उसकी प्रणाली में जीवन के मूल्य और जीवन-सम्बंधी शिक्षण को यथेष्ट मान्यता दी गयी थी और इन्हें इनका उचित स्थान भी दिया गया था। यहाँ तक कि अत्यन्त ऐकांतिक दर्शनों और धर्मों, बौद्धमत और मायावाद ने भी जो जीवन को एक ऐसी अनित्य या अविद्यात्मक वस्तु मानते थे जिसे अवश्य ही अतिक्रम करना और त्याग देना चाहिये, इस सत्य को दृष्टि से ओझल नहीं किया कि पहले मनुष्य को इस वर्तमान अज्ञान या अनित्यता की अवस्था में अपना विकास करना होगा और तब कहीं वह ज्ञान तथा उस नित्य तत्व को प्राप्त कर सकता है जो कालगत सत्ता का निषेध-रूप है। बौद्ध धर्म केवल निर्वाण, शून्यता एवं लय का धूमिल उदात्तीकरण ही नहीं था, न वह धर्म की क्रूर निःसारता ही था; इसने हमें मनुष्य के ऐहलौकिक जीवन के लिए एक महान और शक्तिशाली साधना प्रदान की। समाज और आचारशास्त्र पर अनेक प्रकार से इसका जो बड़ा भारी भावात्मक प्रभाव पड़ा और कला एवं चिन्तन को तथा कुछ कम मात्रा में साहित्य को इसने जो सृजन की प्रेरणा प्रदान की वे इसकी प्रणाली की प्रबल जीवनी शक्ति का पर्याप्त जो सृजन प्रमाण है। यदि सत्ता का निषेध करनेवाले इस अत्यन्त ऐकांतिक दर्शन में यह भावात्मक प्रवृत्ति विद्यमान थी तो भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप में यह कहीं अधिक व्यापक रूप में उपस्थित थी।

नि:सन्देह, भारतीय मानस में प्राचीन काल से ही उस दिशा में एक उदात्त और कठोर अति की ओर विशेष रुझान और प्रवृत्ति रही है जिसे बौद्ध धर्म और मायावाद ने ग्रहण किया था। मानव-मन जो कुछ है इसकी अपनी आवश्यकता एवं अपना मूल्य भी था। हमारा मन सम्पूर्ण सत्य को सहज में तथा एक ही सर्वग्राही प्रयत्न के द्वारा नहीं प्राप्त कर लेता; दु:साध्य खोज ही विभिन्न पहलुओं को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा करता है, प्रत्येक पहलू का उसकी चरम सम्भावना तक अनुशीलन करता है, यहाँ तक कि कुछ समय के लिए उसके साथ एक अनन्य सत्य के रुप में बर्ताव करता है, अधूरे समझौते करता है, नाना प्रकार के समायोजनों और अन्यान्वेषणों द्वारा सच्चे सम्बन्धों के अधिक निकट पहुँचता है। भारतीय मन ने इस पद्धति का अनुसरण किया; जहाँ तक बन पड़ा इसने सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने अन्दर समाविष्ट किया, प्रत्येक स्थिति का परीक्षण किया, प्रत्येक दृष्टिकोण से सत्य का अवलोकन किया तथा अनेक चरमावस्थाओं और अनेक समन्वयों तक पहुँचने का प्रयास किया। परन्तु यूरोपीय आलोचक बहुत सामान्य ढंग से इस विचार में ग्रस्त रहता है कि जीवन का निषेध करने की दिशा में यह जो अति है वही वास्तव में भारतीय विचार और भावना का सर्वस्व थी या फिर यही इस संस्कृति का एकमात्र निर्विवाद सर्वोपरि विचार थी। इससे बढ़कर झूठी और गलत बात और कोई नहीं हो सकती। प्राचीन वैदिक धर्म ने जीवन से इन्कार नहीं किया बल्कि उस पर पूरा-पूरा बल दिया। उपनिषदों ने जीवन से इन्कार नहीं किया, वरन उनकी मान्यता तो यह थी कि जगत शाश्वत सत्ता की, ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, यहाँ जो कुछ भी है वह सब ही ब्रह्म है, सब कुछ ही आत्मा में अवस्थित है और आत्मा सब में अवस्थित है, स्वयंभू आत्मा ही ये सब पदार्थ और जीव बना है। प्राण भी ब्रह्म है, प्राण-शक्ति ही हमारे जीवन का असली आधार है। प्राण-देवता, वायु व्यक्त एवं प्रत्यक्ष ब्रह्म है-प्रत्यक्षं ब्रह्म। परन्तु उपनिषद् ने यह भी बलपूर्वक कहा कि मनुष्य की वर्तमान जीवन-प्रणाली ही उच्चतम या पूर्ण नहीं है। उसका बाह्य मन और प्राण ही उसकी सम्पूर्ण सत्ता नहीं है; सिद्ध और पूर्ण होने के लिए उसे अपने भौतिक और मानसिक अज्ञान को अतिक्रम कर आध्यात्मिक आत्म-ज्ञान में वधित होना होगा।

बौद्ध धर्म इसके बाद आया और उसने इन प्राचीन शिक्षाओं के एक ही पहलू को ग्रहण कर जीवन की अनित्यता और सनातन की नित्यता के बीच एक तीव्र आध्यात्मिक और बौद्धिक विरोध की सृष्टि की जिसने वैराग्यवादीय अति को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया और उसे एक सिद्धांत का रूप दे डाला। परन्तु समन्वयशील हिन्दू मन ने इस निषेध के विरुद्ध संघर्ष किया और अंत में बौद्धधर्म को बहिष्कृत कर दिया, यद्यपि इस दिशा में उसे एक बढ़ी हुई प्रवृत्ति मोल लेनी पड़ी। वह प्रवृत्ति शंकर के दर्शन में उनके माया के उस सिद्धांत में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी जिसने भारतीय मन पर अत्यंत गहरी छाप डाली और हिन्दू-जाति की समूची जीवन-शक्ति

के उत्तरोत्तर ह्रास के समय केलिए पार्थिव जीवन के निराशावादी और निषेधात्मक दृष्टिकोण को स्थिर करने और विशालतर भारतीय आदर्श को विकृत करने की चेष्टा की। परन्तु उसका सिद्धांत महान वेदांतिक शास्त्रों-उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीता से निकलने वाला कोई अनिवार्य परिणाम बिलकुल नहीं है और अन्य वैदांतिक दर्शनों एवं धर्मों ने जो इन शास्त्रों तथा आध्यात्मिक अनुभव की सहायता से अत्यंत भिन्न परिणामों पर पहुंचे, इस सिद्धांत का सदा ही खण्डन किया। वर्तमान समय में, शंकर-दर्शन के अल्पकालीन उत्कर्ष के होते हुए भी, भारतीय चिंतन और धर्म की अत्यंत प्राणवंत प्रवृत्तियाँ फिर से अध्यात्म और जीवन के समन्वय की ओर ही बढ़ रही हैं जो प्राचीन भारतीय आदर्श का एक आवश्यक अंग था। मनुष्य की बौद्धिक, क्रियाशील और संकल्पात्मक, नैतिक, सौंदर्यात्मक, सामाजिक तथा आर्थिक सत्ता को पूर्ण रूप से विकसित करना भारतीय सभ्यता का एक आवश्यक अंग था-यदि और किसी चीज के लिए नहीं तो कम-से-कम आध्यात्मिक पूर्णता और स्वतंत्रता के एक अनिवार्य आरंभिक साधन के रूप में तो अवश्य था ही। चिंतन, कला, साहित्य और समाज में भारत की सर्वश्रेष्ठ प्राप्तियाँ उसकी धर्मप्रधान दार्शनिक संस्कृति का युक्तिसंगत परिणाम थीं।

किन्तु फिर भी यह तर्क किया जा सकता है कि सिद्धांत चाहे जो भी रहा हो, उक्त अति तो विद्यमान थी ही और व्यवहार में इसने जीवन और कर्म को निरुत्साहित किया। मि. आर्चर की आलोचना का, जबकि इसके अन्य असत्यों को दूर कर दिया जाता है, अंत में यही अर्थ होता है। वह समझता है कि आत्मा, सनातन, विराट निर्व्यक्तिक एवं अनन्त पर दिये गये बल ने जीवन, संकल्प, व्यक्तित्व और मानव-कर्म को निरुत्साहित किया तथा एक मिथ्या एवं जीवनघाती वैराग्यवाद को जन्म दिया। असंगति की, वह कम हो या अधिक, इस आलोचक को कोई परवाह नहीं, अतः उसी एक सांस में वह यह भी कहता है कि ठीक वही भारत, जिसे उसने अन्यत्र सदा दुर्बल, अनुर्वर या अद्भुत विफलताओं की जननी कहकर वर्णित किया है, जगत के अत्यंत मजेदार देशों में से एक है। इसकी कला एक प्रभावशाली एवं आकर्षक जादू डालती है और उसकी सुषमा असंख्य प्रकार की है। इसकी बर्बरतायें भी अपूर्व हैं और सबसे बढ़ाकर आश्चर्य की बात यह है कि इसकी प्राचीन सुविरचित कुलीनवर्गीय संस्कृति के सदनों में समासीन इसके कुछ महापुरुषों के समक्ष एक यूरोपवासी अपने को स्वभावत: ही एक अर्द्धबर्बर आंगतुक सा अनुभव करने लगता है!

धीरज

राजा ने संत के तीन वचन सुनेः मौत जैसी बात सामने आ जाये तो भी आवेश में नही आना, अतिथि का सत्कार करना, धीरज से हर बात सुननां राजा पैदल जा रहा था, आकाशवाणी हुयी कि तेरी मौत सांप के काटने से होगी, उसने पहाड़ तक धूप दीप की सुगन्ध फैला दी, जगह जगह दूध के कटोरे रख दिये। शाम को सांप निकला, देखा जिसे मैं मारने जा रहा हूं, उसी ने मेरा इतना सत्कार किया है, उसे नही डसूं गा-सांप लौट गया। राजा की लड़की राजकुमार की पोशाक पहन कर रानी के साथ सो रही थी। राजा महल में आया, देखा रानी परपुरूष के साथ सो रही है। गुस्सा आया, तलवार निकाल ली। फिर संत का तीसरा वचन याद आया-सोचा रानी को उठा कर पूछ लूं। पता चला यह उसी की लड़की है जो नाटक में राजकुमार बनी थी। राजा खुश हो गया। बोला, संत की कितनी महिमा है, एक एक वचन से मौत टल गयी।

-श्रीअरविन्द

राष्ट्र-आत्मा की खोज

-श्रीअरविन्द

अपने विकास के लिए प्रयत्न करना व्यक्तिगत जीवन का मूल विधान एवं उद्देश्य है। चेतन रूप में अथवा अर्ध चेतन रूप में अथवा अन्धे की टटोल के समान अज्ञानपूर्वक वह स्वनिर्माण के लिए अर्थात् अपने निजत्व को पा लेने के लिए, अपने भीतर हीअपनी सत्ता के विधान एवं शक्ति की खोज एवं इसकी परिपूर्ति करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है और यह उचित भी है। उसका यह उद्देश्य मौलिक, उचित और अनिवार्य है, क्योंकि सब गुण दोषों को ध्यान में रखते हुए और सब प्रतिवादों के रहते हुए भी यह निश्चित है कि व्यक्ति केवल क्षणभंगुर शरीरधारी प्राणी ही नहीं है अर्थात् मन और शरीर का कोई ऐसा ढाँचा नहीं है जो बनता और बिगड़ता रहता है; प्रत्युत् वह एक सत्ता है, अनादि सत्य की एक जीवंत शक्ति है, एक स्वाभि व्यक्तिशील आत्मा है। इसी प्रकार एक समाज, जाति अथवा राष्ट्र का मूलभूत विधान एवं उद्देश्य भी अपनी परिपूर्ति की खोज करना है। ठीक ही वह आत्मोपलब्धि के लिए यत्न करता है, अपने अन्दर ही अपनी सत्ता के विधान एवं उसकी शक्ति को जानने, यथासम्भव पूर्णता के साथ उसे चरितार्थ करने, उसकी संभाव्यताओं को सिद्ध करने एवं अपना ही आत्मप्राकट्यकारी जीवन व्यतीत करने का यत्न करता है। कारण वही है, क्योंकि वह भी एक सत्ता है, अनादि सत्य की एक सजीव शक्ति है, विराट पुरुष की एक आत्माभिव्यक्ति है और अपने ही अन्दर विराजमान उसी विश्व पुरुष के विशेष सत्य, सामर्थ्य एवं अभिप्राय को अपनी ही रीति से और अपनी ही योग्यता के परिमाण के अनुसार अभिव्यक्त करने एवं उसकी परिपूर्ति करने के लिए वह यहाँ उपस्थित है। व्यक्ति के समान ही राष्ट्र अथवा समाज का भी शरीर होता है, एक सुघटित जीवन, एक नैतिक एवं सौंदर्य ग्राही स्वभाव होता है और इन सब चिह्नों और शक्तियों के पीछे एक विकसनशील मन एवं एक ऐसी आत्मा होती है जिसके लिए ही इनका अस्तित्व होता है। यह भी देखा जा सकता है कि वह व्यक्ति के समान मूलतः एक आत्मा है, यह नहीं कि उसकी एक आत्मा है। वह एक सामुदायिक आत्मा है जो एक बार पृथक वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेने पर अधिकाधिक सचेतन होती जायेगी और जैसे-जैसे वह अपना सम्मिलित कार्य एवं मानसिक शक्ति और सुगठित आत्म अभिव्यंजक जीवन विकसित करेगी वैसे-वैसे वह अपने को उत्तरोत्तर पूर्ण रूप से उपलब्ध करती जायेगी।

व्यक्तिगत आत्मा ओर समुदाय-आत्मा की समानता उनके हर पहलू में होती है, क्योंकि यह समानता से अधिक है। यह स्वभाव की वास्तविक तदात्मयता होती है। भेद केवल इतना है कि सामुदायिक आत्मा बहुत अधिक जटिल होती है, क्योंकि उसकी भौतिक देह के अंगों के रूप में केवल प्राणमय अवचेतन कोष्ठकों के संघात के स्थान पर आंशिक रूप में चेतन मनोमय शक्तियों की बहुत बड़ी संख्या विद्यमान रहती है। इसी कारण वह जो-जो स्वरूप धारण करती है उनमें पहले पहल वह अधिक अव्यवस्थित, बेडौल और कृत्रिम-सी प्रतीत होती है। क्योंकि उसके सम्मुख अधिक कठिन कार्य होता है, अपनी उपलब्धि के लिए उसे अधिक समय की आवश्यकता होती है, वह तरल अधिक होती है और कठिनाई के साथ ही उसकी देह का गठन बन पाता है। अस्पष्ट रूप में चेतन स्व निर्माण की अवस्था से बाहर निकलने में जब वह समर्थ हो पाती है तब उसकी प्रथम निश्चित स्वचेतना अनुभवनिष्ठ के स्थान पर अधिकतर वस्तुनिष्ठ (Objective) होती है और यदि कुछ सीमा तक अनुभवनिष्ठ होती भी है तो वह स्वभावतः ही उपरितलीय अथवा शिथिल एवं अस्पष्ट-सी होती है। यह वस्तुनिष्ठता राष्ट्र के उस सामान्य भावुकतापूर्ण विचार में बड़ी प्रबलता के साथ प्रकट होती है जो इसके भौगोलिक, अत्यन्त बाह्य और स्थूल रूप में ही केन्द्रित रहता है। जिस देश में हम वास करते हैं उसके लिए, हमारे पूर्वजों के देश, हमारे जन्म के देश, पितृभूमि, जन्म भूमि के लिए उत्कट प्रेम इसका उदाहरण है। जब हमें अनुभव होने लगता है कि भूमि तो देश का बाह्य आवरण मात्र है, यद्यपि वह सचमुच अत्यन्त जीवंत आवरण है और राष्ट्र पर अपने प्रभाव की दृष्टि से शक्तिशाली भी है, जब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि इसकी सच्ची देह तो वे पुरुष और स्त्रियाँ है जो राष्ट्र-इकाई के निर्माता हैं और यह देह एक निरन्तर परिवर्तनशील परन्तु व्यक्ति की देह के समान सदा वही रहनेवाली देह है। तब हम एक सच्ची अनुभवात्मक सामुदायिक चेतना की ओर अग्रसर होते हैं। तभी हमारे लिए ऐसा करने की सम्भावना उत्पन्न होती है कि समाज भौतिक सत्ता भी केवल स्थूल अस्तित्व मात्र नहीं, प्रत्युत् एक अनुभवात्मक शक्ति है।अपने आन्तरिक रुप में यह कहीं अधिक एक महान समवाय आत्मा है जिसमें आत्मिक जीवन की सम्भावनाएं एवं विभीषिकाएँ दोनों ही निहित हैं।

पश्चिम में मानवता के समस्त ऐतिहासिक काल पर समाज की वस्तुनिष्ट दृष्टि का ही सम्राज्य रहा है; पूर्व में इसका पूर्ण आधिपत्य तो कभी नहीं हो पाया परन्तु पर्याप्त रुप में यह वहाँ शक्तिशाली अवश्य रही है। शासक, प्रजा और विचारक समानरूप से अपने-अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को एक राजनीतिक स्थिति, अपनी सीमाओं का विस्तार अपने हार्दिक हित और फैलाव, अपने नियम, संस्थाएँ और इन सबका कार्य-व्यापार मानते रहे हैं। यही कारण है कि बाह्य तल पर सब जगह राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की ही प्रधानता

रही है और इतिहास इन्हीं के क्रिया-कलाप और प्रभावों का लेखा रहा है। व्यक्ति ही एक इस प्रकार की अनुभवात्मक और मनोवैज्ञानिक शक्ति रहा है जिसे ज्ञानपूर्वक स्वीकार किया गया है और जिससे इंकार नहीं किया जा सकता। यह प्रधानता इतनी अधिक मात्रा में रही है कि अधिकांश आधुनिक इतिहासवेत्ता और कुछ राजनीतिक विचारक इस परिणाम पर पहुंचे कि प्राकृतिक विधान के अनुसार बाह्य आवश्यकताएँ ही वास्तविक निर्णायक शक्तियां हैं, शेष सब या तो इन शक्तियों का परिणाम हैं अथवा इनकी आकस्मिक घटनाएँ। वैज्ञानिक इतिहास का स्वरूप तो कुछ इस प्रकार का माना जाता रहा है मानो वह राजनीतिक कार्यों के परिस्थितिगत उद्देश्यों का, आर्थिक शक्तियों एवं वृद्धि विकास की क्रीड़ा तथा संस्थाओं की विकास गति का एक लेखा और मूल्यांकन हो। कुछ थोड़े से लोगों ने, जो मनोवैज्ञानिक तत्व को महत्व देते हैं, अपनी दृष्टि व्यक्तियों पर ही केन्द्रित रखी है और वे इतिहास को अधिकतर जीवन-चरित्रों का एक संग्रह ही मानते हैं। भविष्य का अधिक सच्चा औरअधिक विशाल विज्ञान यह जान लेगा कि ये सब अवस्थाएँ राष्ट्रीय विकास के अपूर्ण चेतन युग पर ही लागू होती हैं। उस समय भी एक महत्तर अनुभवात्मक शक्ति व्यक्तियों, संस्थानों की नीतियों, उनके आर्थिक आन्दोलनों एवं परिवर्तनों की पृष्ठभूमिका में सदा कार्य कर रही थी,परन्तु अधिकांश में इसका कार्य अवचेतन रूप में जाग्रत मन की अपेक्षा हमारी प्रच्छन्न आत्मा के रूप में ही हो रहा था।

जब समुदाय-आत्मा की अवचेतन शक्ति उपरितल पर आगे आती है तभी राष्ट्र अपने अन्दर की अनुभवात्मक सत्ता को अधिकृत करने की ओर अग्रसर होने लगते हैं, चाहे कितनी भी अस्पष्ट अथवा अपूर्ण रीति से ही क्यों न हो वे अपनी आत्मा की उपलब्धि करने लगते हैं। निःसंदेह इस अनुभवात्मक सत्ता का एक अस्पष्ट-सा भाव सामुदायिक मानसिकता के बाह्य तल पर भी सदा काम करता रहता है। परन्तु यह अस्पष्ट भाव जब कुछ स्पष्ट रूप धारण करने भी लगता है तो इसका क्षेत्र प्रायः छोटी-छोटी अमुख्य बातों, राष्ट्रीय प्रवृत्तियों की निजी विशेषताओं, अभ्यासों, पक्षपातों एवं विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों तक ही सीमित रहता है। यों कहें कि अन्दर की अनुभवात्मकता का यह बाह्य वस्तु-आत्मक भाव होता है। जैसे मनुष्य अपने-आपको एक देह और प्राण के रूप में कुछ नैतिक अथवा अनैतिक स्वभाव से युक्त भौतिक प्राणी के रूप में ही देखने का अभ्यासी है तथा मन की वस्तुओं को अपने आप में ही मौलिक वस्तु अथवा किसी मौलिक वस्तु का प्रतीक न मानकर उन्हें भौतिक जीवन के उत्कृष्ट पुष्प एवं अभिप्राप्ति मानता है, वैसे ही और उससे भी अधिक समुदाय भी अपनी अनुभवात्मक सत्ता के उस छोटे से भाग को, जिसका उसे ज्ञान हो जाता है, ऐसा ही मानता है। निश्चय ही समुदाय अपनी प्रकृति की निजी विशेषताओं, अभ्यासों एवं पक्षपातों के साथ सदा चिपटा रहता है, परन्तु अज्ञानपूर्ण बाह्य भौतिक ढंग से ही, वह उनके स्थूल रुप को ही अत्यधिक महत्व देता है और जिस तत्व के वे प्रतीक होते हैं तथा जिस वस्तु को वे अज्ञानपूर्ण रीति से अभिव्यक्त करने का यत्न करते हैं उसमें वह कदापि प्रवेश नहीं कर पाता।

न केवल राष्ट्रों में ही अपितु सभी समुदायों में भी यही नियम लागू होता रहा है। चर्च एक संगठित धार्मिक समुदाय है और यदि जगत की किसी भी वस्तु को अनुभवात्मक होना चाहिये तो धर्म को तो ऐसा होना ही चाहिये। क्योंकि जहाँ यह केवल अतिप्राकृतिक प्रामण्य से युक्त कोई नैतिक मत नहीं होता, वहाँ इसके अस्तित्व का कारण आत्मा की खोज और उपलब्धि ही होता है। परन्तु इसके संस्थापकों और उनके तुरन्त बाद के उत्तराधिकारियों के समय को छोड़कर लगभग समस्त धार्मिक इतिहास का रूप बाह्य वस्तुओं, बाह्य प्रथाओं, विधि विधान, शास्त्र-प्रमाण, मन्दिरों के प्रशासन, मतों और मान्यताओं के स्वरूपों पर ही बल देने का रहा है। यूरोप के धार्मिक इतिहास के समस्त बाह्य रूप को देखिये, वह विषमताओं, रक्त-रंजित वाद-विवादों, 'धार्मिक' युद्धों, अत्याचारों, राज्यीय चर्चाओं और अन्य भी जो कुछ आध्यात्मिक जीवन का सर्वथा विरोधी है उस सबका विचित्र भ्रष्टाचारी दुःख-सुखमय एक नाटक है। अभी कुछ थोड़े समय से ही लोगों ने गम्भीरतापूर्वक यह विचार करना आरम्भ किया है कि ईसाई धर्म, कैथोलिक धर्म और इस्लाम का वास्तविक अर्थ और उनकी सच्ची आत्मा क्या है अर्थात् अपने वास्तविक रूप और मूलतत्व में वे क्या हैं।

परन्तु समुदाय-चेतना की यह नवीन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति अब बड़ी द्रुत गति से, एक विशिष्ट रूप में, उपरितल पर आती हुई दिखायी दे रही है। अब पहले तो हमें राष्ट्र की आत्मा की चर्चा सुननी पड़ती है और इससे भी अधिक हमारे उद्देश्य के अनुकूल यह है कि राष्ट्र सचमुच ही अपनी आत्मा की टटोल करते हुए, आत्मा की उपलब्धि का प्रयास करते हुए और सार्वजनीन जीवन एवं कर्म में सचेतन रूप से इसे क्रियाशील बनाने के लिए यत्न करते हुए प्रतीत होते हैं। यह तो स्वाभाविक ही है कि यह प्रवृत्ति अधिकतर नवीन राष्ट्रों में अथवा उन राष्ट्रों में जो राजनीतिक पराधीनता अथवा पराजय से पीड़ित होते हुए भी अपने निजत्व की उपलब्धि के लिए संघर्ष कर रहे हैं, अधिक बलशाली हों, क्योंकि ऐसे राष्ट्रों को अपने तथा दूसरे राष्ट्रों में भेद का अनुभव करने की अधिक आवश्यकता है, ताकि उन्हें अपनेमें विलीन कर लेने अथवा उनका अस्तित्व ही मिटा देने की प्रवृत्ति रखनेवाले शक्तिशाली अतिजीवन के विरुद्ध वे अपने व्यक्तित्व को स्थापित कर सकें और उसका औचित्य ठहरा सकें। और ठीक इसीलिए कि उनका बाह्य जीवन निर्बल होता है और प्रतिकूल परिस्थितियों में केवल अपनी ही शक्ति से उसकी पुष्टि करना कठिन होता है-वे अधिकतर अपने व्यक्तित्व और निज स्थापन की सामर्थ्य को उस वस्तु में खोज सकते हैं जो अनुभवात्मक एवं मनोवैज्ञानिक हो अथवा कम-से-कम जिसका अनुभवात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक महत्व हो।

अतएव इस प्रकार की परिस्थितियों में पड़े हुए राष्ट्रों में आत्मोपलब्धि की यह प्रवृत्ति अत्यन्त बलशाली रही है तथा उनमें

से कुछ में तो इस प्रवृत्ति ने एक नवीन प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन की सृष्टि भी की है, जैसा कि आयरलैण्ड तथा भारत में हुआ है। बंगाल के स्वदेशी-आन्दोलन का मूल उद्देश्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इसी प्रकार आयरिश आन्दोलन की भी उसकी आरम्भिक अवस्था में, जब तक उसने पूरी तरह से शुद्ध राजनीतिक रूप धारण नहीं किया था, मूल वृत्ति यही थी। भारत में बंगाल के एक उपराष्ट्र के रूप में उदय होने की गति सम्पूर्णतया और प्रबल रूप में अनुभवात्मक थी और बाद के घटनाक्रम में तो इसने अत्यन्त सचेतन रूप में यह अनुभवात्मक रूप धारण कर लिया था। बंगाल के 1905 के आन्दोलन ने न केवल एक देश के रूप में अपितु एक आत्मा के रूप में, एक मनोवैज्ञानिक, लगभग आध्यात्मिक सत्ता के रूप में राष्ट्र विषयक सर्वथा नवीन भावना का अनुसरण किया। अपने आर्थिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों से काम करते हुए भी उसने इन्हें अनुभवात्मक भावना के द्वारा शक्तिशाली बनाने का यत्न किया और इन्हें अपने-आप में लक्ष्य मान लेने के स्थान पर आत्माभिव्यंजना का साधन बनाने का यत्न किया, परन्तु फिर भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अपनी आरम्भिक अवस्थाओं में इन आन्दोलनों ने अपनी तलीय विचारधारा में बाह्य एवं अधिकतर राजनीतिक स्वचेतना के पुराने उद्देश्यों का ही अनुसरण किया। निःसन्देह पश्चिम की अपेक्षा पूर्व सदा अनुभव प्रधान अधिक रहा हैं और ईरान, भारत अथवा

हम इस समय पृथ्वी के इतिहास में एक निश्चयात्मक घड़ी में विकास कर रहे हैं। यह अतिमानव के आगमन की तैयारी की घड़ी है और इसी कारण जीवन का पुराना ढंग अपना मूल्य खो रहा है। व्यक्ति को साहसपूर्वक भविष्य के पथ पर आगे बढ़ना चाहिये, उसकी नयी-नयी उमंगों के होते हुए भी। जिन क्षुद्रताओं को एक समय सहा जाता था, उन्हें अब और नहीं सहा जा सकता; व्यक्ति को अपने-आपको विशाल बनाना होगा जिससे कि वह उस वस्तु को ग्रहण कर सके जो भविष्य में जन्म लेगी।

-श्रीमाँ

चीन के राजनीतिक आन्दोलनों में, यहाँ तक कि जापान के पुनरुत्थान के अत्यन्त अनुकरणात्मक आन्दोलन में भी हमें यह अनुभवात्मक रंग दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह अनुभववाद अभी पिछले कुछ समय से ही स्वचेतन बना है। इससे हम इस निर्णय पर पहुंच सकते हैं कि कुछ राष्ट्रों के द्वारा ज्ञानपूर्वक एवं इच्छापूर्वक प्रयुक्त यह अनुभववाद मानवता में एक व्यापक परिवर्तन का चिह्न एवं पूर्वगामी निर्देशमात्र रहा है तथा स्थानीय परिस्थितियों से इसकी प्रगति में सहायता भी प्राप्त होती रही है, परन्तु यह इन पर न तो निर्भर रहा है और न किसी रूप में यह उनकी उपज ही है।

यह व्यापक परिवर्तन एक असंदिग्ध तथ्य है। इस युग में राष्ट्रीय एवं सामुदायिक जीवन की प्रवृत्तियों का यह एक मुख्य व्यापार है। जिस भावना को आयरलैण्ड तथा भारत ने सबसे पहले अपने निजत्व की उपलब्धि का निश्चित रूप प्रदान किया थाजो उपलब्धि भूतकाल के पराधीन अथवा विपत्तिग्रस्त राष्ट्रों की दूसरों के समान हो जाने की प्रेरणा तथा आकांक्षा से इतनी भिन्न है-वह अब राष्ट्रीय जीवन का अधिकाधिक व्यापक रूप में स्वीकृत लक्ष्य बन रही हैं। इससे बड़े-बड़े-खतरों और भयनकर भूलों के लिए मार्ग तो अवश्य खुलजाता है परन्तु आज 'काल पुरुष' की मानव-जाति से यह माँग है कि इसे न केवल व्यक्ति में, अपितु राष्ट्र में और स्वयं समूची मानवजाति की एकता में भी अपनी गंभीरतर सत्ता को, अपने अन्तरतम विधान को, अपनी वास्तविक आत्मा को, अनुभवात्मक रीति से ही उपल्बध करना होगा और कृत्रिम मानदंडों का परित्याग करके उसके अनुसार ही जीवन बनाना होगा, उसकी यह आवश्यक आधार-भूमि है। युद्ध से पहले सब जगह यह प्रवृत्ति अपनी तैयारी कर रही थी और आंशिक रूप में उपरितल पर प्रकट भी होने लगी थी, परन्तु जैसा हमने ऊपर कहा है, यह प्रक्रिया अधिक व्यक्त रूप में जर्मनी जैसे नये राष्ट्रों में तथा भारत जैसे पराधीन राष्ट्रों में चल रही थी। युद्ध के झटके ने अपने आरम्भ से ही तुरन्त तथा कुछ काल के लिए उग्र सैनिक रुप में-इसी गम्भीरतर आत्म-चेतना को सर्वत्र जन्म दे दिया। आरम्भिक अवस्था में उसके अभिव्यक्त भाव अधिकांश रुप में अत्यन्त भद्दे और प्राय: वास्तिवक रूप में बर्बर तथा प्रतिक्रियात्मक स्थूलता का नमूना थे, विशेषकर इसमें टयूटानिकपतन की पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति विद्यमान थी। यह केवल 'स्वचेतन' होने की तैयारी ही नहीं थी, जोकि सर्वथा उचित है, अपितु यह केवल अपने ही लिए और निजत्व के अन्दर केन्द्रित रहने की प्रवृत्ति थी, जिसको यदि एक विशेष सीमा से बाहर ले जाया जाये तो वह एक विनाशकारी भूल बन जाती है। कारण, यदि मानव जाति के अनुभव प्रधान युग को सर्वोत्तम फल उत्पन्न करने हैं तो यह आवश्यक है कि राष्ट्र न केवल अपनी आत्मा के विषय में ही सचेतन हों; अपितु एक-दूसरे की आत्मा के विषय में भी सचेतन हों; उन्हें न केवल आर्थिक एवं बौद्धिक रूप में ही, अपितु अनुभवात्मक तथा आध्यात्मिक रूप में भी एक-दूसरे का सम्मान करना, परस्पर सहायता करना एवं लाभ उठाना सीखना चाहिये।

जर्मनी का उदाहरण और आक्रमण एक महान निर्णायक शक्ति रहा है। उदाहरण इसलिए कि कोई भी दूसरा राष्ट्र इतने सचेतन रूप से, इस प्रकार विधिपूर्वक, इतनी बुद्धिमता के साथ तथा बाह्य दृष्टि कोण से इतनी सफलतापूर्वक अपने को उपलब्ध करने, शक्तिशाली बनाने, अपने स्व के अनुसार जीवन-निर्माण करने और अपनी सत्ता की सामर्थ्य से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का यल नहीं कर पाया है। उसका आक्रमण इसलिए कि स्वयं इसके आक्रमण का स्वरूप एवं उसके घोषित आदर्श इस प्रकार के थे जो आक्रान्त राष्ट्रों में स्व-रक्षण की स्वचेतना जाग्रत कर देने की प्रवृत्ति रखते थे और आक्रमणकारी की इस अद्भुत शक्ति का स्रोत क्या है इसका बोध प्राप्त करने के लिए उन्हें बाध्य कर देते थे और यह प्रतीति भी

करवा देते थे कि अनुरूप शक्ति प्राप्त करने के लिए उन्हें भी उन्हीं गम्भीरतर स्रोतों में ज्ञानपूर्वक खोज करनी चाहिये। अनुभवप्रधान भूमिका के लिए तैयारी करते हुए राष्ट्र यह अत्यन्त अद्भुत उदाहरण इस समय जर्मनी के रूप में हमारे सामने था, क्योंकि प्रथम तो उसको एक विशेष प्रकार की दृष्टि प्राप्त थी-यद्यपि यह दृष्टि दुर्भाग्य से अंतर्ज्योति से युक्त न होकर बौद्धिक थी तथा उस दृष्टिअनुसरण करने का साहस भी उसमें था । यहाँ भी दुर्भाग्यवश आध्यात्मिक साहस की दृढ़ता न होकर केवल प्राण का और बौद्धिक साहस ही था और दूसरे वह अपने भाग्य का स्वामी था, अतः निज दृष्टि को क्रियात्मक रूप में परिणत करने के लिए अपने जीवन की व्यवस्था करने की सामर्थ्य रखता था। बाह्य रूपों में भटककर हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि जर्मनी की शक्ति का निर्माता बिस्मार्क था अथवा उसका संचालक कैसर विल्हेल्म द्वितीय था। बल्कि इस बढ़ते हुए राष्ट्र के लिए बिस्मार्क का आगमन तो कई प्रकार से दुर्भाग्य का ही कारण बना, क्योंकि उसके कठोर और बलशाली हाथ ने जर्मनी की अनुभवात्मकता को उचित समय से बहुत पहले ही आकार धारण करने और कार्यक्षेत्र में कूद पड़ने के लिए बाध्य कर दिया। यदि अंतःचेतना और परिपक्वता के लिए जर्मनी को और अधिक लम्बा समय मिल जाता तो चाहे वह मानवता के लिए सम्भवतः इतना प्रेरणाप्रद सिद्ध न होता परन्तु अपने आप तो इतने विनाशकारी परिणामों से बच ही जाता। इस महान अनुभवात्मक शक्ति का, जिसको बाह्य कर्म में इतना विकृत कर दिया गया था, वास्तविक स्रोत वस्तुतः जर्मनी के राजनीतिज्ञों अथवा सैनिकों में नहीं था जो अधिकांश में प्रायः निम्न कोटि के ही मनुष्य थे —प्रत्युत उसके महान दार्शनिकों कांट, हीगल, फिख्टे, नीत्से; उसके महान विचारक और कवि गेटे, उसके महान संगीतज्ञ बीथोवन तथा वाग्नेर में तथा उस जर्मन आत्मा एवं स्वभाव की सभी विशिष्टतामों में था जिसके वे प्रतिनिधि थे। जिस राष्ट्र की सर्वोपरि संसिद्धि प्रायः पूर्ण रूप से दर्शन और संगीत के दो क्षेत्रों में ही रही हो, अनुभववाद की प्रवृत्ति में उसका नेतृत्व एवं अनुभवप्रधान युग के आरम्भों पर उसका गहरा प्रभाव-अच्छा अथवा बुरा-पड़ना स्पष्ट ही पूर्व निश्चित था।

जर्मनी के पूर्व निर्धारित भाग्य का यह एक पहलू था, दूसरा उसके विद्वानों, शिक्षा-शास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा व्यवस्थापकों में मिलेगा। यह था उद्योग, सच्चा परिश्रम, विचारों के प्रतिनिष्ठा तथा कर्म के लिए सच्ची एवं परिश्रमशील भावना जिसके लिए वह राष्ट्र चिरकाल से विख्यात रहा है। किसी जाति को अनुभवात्मक शक्तियों का चाहे कितना भी अधिक उच्च प्रसाद प्राप्त हो परन्तु मनुष्य की जटिल प्रकृति के निम्न भाग के विकास की यदि वह उपेक्षा करती है तो वह विचार एवं कल्पना और तथ्यों की दुनिया के बीच में, दृष्टि (vision) और शक्ति के बीच में उस सेतु का निर्माण करने में असमर्थ रहेगी जो समस्त सिद्धि को सम्भव बनाता है, उसकी उच्चतर शक्तियाँ संसार के लिए आनन्द एवं प्रेरणा का कारण बन सकती हैं परन्तु जब तक वह निम्नतर पाठ का पारायण नहीं करतीं तब तक वह अपने जगत को कभी अधिकृत नहीं कर सकती। जर्मनी में वह सेतु विद्यमान था परन्तु अधिकांश में वह एक अन्धकारपूर्ण गुफा में से गुजरता था जिसके नीचे एक खाई विद्यमान थी क्योंकि विचारकों तथा संगीतज्ञों के अनुभवात्मक मन से विद्वानों तथा व्यवस्थापकों के वस्तुवादी मन तक शुद्ध धारा का प्रवाह नहीं पहुँच पाता था।नित्से की शिक्षाओं का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कार्य में ट्राईटशके के द्वारा दुरुपयोग, जोकि उस दार्शनिक के लिए भी अत्यन्त दुख का कारण बनता, इस दूषित भाव-सम्प्रेषण का एक उदाहरण है। परन्तु भाव-सम्प्रेषण तो हो ही रहा था। अर्ध-शताब्दी से अधिक काल तक जर्मनी अपनी सत्ता के एवं सृष्टि के सत्य की खोज करने के लिए अपने अन्दर, पदार्थों में तथा विचारों पर, अन्तर्निरीक्षण की गम्भीर दृष्टि डालता रहा और जो कुछ वह प्राप्त कर चुका था अथवा वह समझता था कि उसने प्राप्त कर लिया है उसको व्यवस्थित करने के लिए बाह्य साधनों की ओर एक अर्ध शताब्दी भर वैज्ञानिक खोज कीधैर्य पूर्ण आँखें लगाये बैठा रहा। परिणामस्वरूप कुछ काम तो हुआ ही, कुछ काम तो वस्तुतः शक्तिशाली एवं विशाल रूप में भी हुआ, किन्तु कुछ दिशाओं में, यद्यपि सब दिशाओं में नहीं, कार्य कुरुप तथा क्षोभजनक सा हुआ। दुर्भाग्यवश कर्म की ये दिशाएं ठीक वही मुख्य पद्धतियाँ थीं जिनमें भूल करने का परिणामअपने लक्ष्य को ही खो बैठना होता है।

यह तो कहा ही जा सकता है कि जो कुछ कार्य सम्पन्न हुआ उसका अन्तिम परिणाम-युद्ध, विनाश, कठोर सशस्त्र आक्रान्ता और वीभत्स नाजी राज्य के प्रति भयंकर प्रतिक्रिया-नकेवल पर्याप्त रूप में निराशाजनक है अपितु इस मार्ग को त्याग देने और अधिक पुराने एवं सुरक्षित मार्गों को अपनाने के लिए स्पष्ट रूप से चेतावनी स्वरूप भी है। परन्तु बड़ी-बड़ी शक्तियों का दुरूपयोग उनके सदुपयोग के विरूद्ध कोई युक्ति नहीं हो सकता। पीछे की ओर लौटना तो असंभव होता है, यद्यपि प्रयत्न ही सदा भ्रममूलक सिद्ध होता है। हम सबको भी वही करना है जिसके लिए जर्मनी ने यत्न किया है, परन्तु यह ध्यान रखना है कि हमें उस ढंग से नहीं करना है जिस ढ़ंग से जर्मनी में किया गया था। अत: यह जानने के लिए कि यह असफलता क्यों हुई और कहाँ हुई, हमें युद्ध-भूमि के रक्तरंजित कुहरे तथा धूम्रमय अन्धकारपूर्ण किंकर्तव्य-विमूढ़ता एवं अस्त-व्यस्तता से परे, जो इस समय संसार को भयभीत किये हुए हैं, दूर तक दृष्टि डालनी है, क्योंकि यह असफलता तो उसके कार्यों ने जो दिशा ग्रहण की उससे प्रकट होने लगी थी और इसने कुछ समय के लिए पूर्ण विनाश का ही रूप धारण कर लिया था, केवल सत्य की खोज करनेवाले निष्पक्ष विचारक को तो यह पहले से ही स्पष्ट दिखायी दे रही थी। उसको भी उसी विपत्ति का सामना करना पड़ा जिसका कभी-कभी योग मार्ग के, सचेतन आत्मान्वेषण की कला के-एक ऐसे मार्ग के जिसमें साधारण मनुष्य पर सामान्यतः आनेवाली आपत्तियों से कहीं अधिक आपत्तियों के अभिक्रम का भय रहता है-जिज्ञासु को तब सामना करना पड़ता है जबकि वह एक झूठे प्रकाश का अनुसरण करके अपना आध्यात्मिक विनाश कर बैठता है। उसने भूल से अपने प्राणमय अहंकार को ही अपना-आप समझ लिया था, उसने अपनी अत्मा की खोज तो की

परन्तु प्राप्त वह केवल अपनी प्राण-शक्ति ही कर सका। कारण, असुर के समान उसने यह कहा कि 'मेरा शरीर, मेरा प्राण, मेरा मन, मेरा स्वभाव ही मैं हूँ।' और आसुरिक बल के साथ इनसे चिपट गया। उसने विशेषकर यह घोषित किया कि 'मेरा प्राण और शरीर ही मैं हूँ।' किसी भी मनुष्य अथवा राष्ट्र के लिए इससे बड़ी भूल और कोई नहीं हो सकती। मनुष्य या राष्ट्र की आत्मा इससे अधिक कुछ है, इससे अधिक दिव्य वस्तु है, वह अपने यन्त्रों की अपेक्षा अधिक महान है और किसी भौतिक, प्राणमय, मनोमय अथवा स्वभावात्मक ढाँचे में उसे कैद नहीं रखा जा सकता। अतः इस आत्मा को किसी ढाँचे में-चाहे फिर वह झूठा सामाजिक ढांचा, बृहत्काय सामूहिक मानव डिनोसोरस (Dinosaurus) के कवचमय दृढ़ सामाजिक शरीर के समान ही क्यों न हो-कैद रखने का परिणाम यही हो सकता है कि आन्तरिक सत्य सत्ता के विकास में बाधा पड़ जायेगी और अन्त में वह क्षय या विनाश घटित होगा जो उन सब चीजों को जो नमनशील और अनुकूलनीय नहीं हैं आक्रान्त कर देता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि अनुभववाद भी सच्चा और झूठा दो प्रकार का होता और अनुभवात्मक प्रवृत्ति जिन भूलों का शिकार बन सकती है वे भी उतनी ही बड़ी होती हैं जितनी बड़ी कि उसकी सम्भावनाएँ; वे बड़ी-बड़ी आपदाओं का अवसर बन सकती हैं। यदि मानव जाति के लिए सामाजिक विकास की इस अनुभव प्रधान अवस्था के मार्ग को सुरक्षित बनाना है तो इस भेद को स्पष्ट समझ लेना परमावश्यक है ।

भारतीय चिन्तकों में अग्रवर्ती श्रीअरविन्द

-रोमां रोलाँ

भारतीय चिन्तकों में अग्रवर्ती श्रीअरविन्द घोष से बौद्धिक और धार्मिक भारत एक नये रहस्योद्घाटन की प्रतीक्षा कर रहा है।

बंगाल विप्लव का पुराना राजनीतिक नेता, जो अब आधुनिक भारत का सबसे बड़ा दार्शनिक है, अब तक पूर्व और पश्चिम के बीच सम्पूर्ण संश्लेषण सिद्ध कर चुका है। सन् १९१० में उन्होंने राजनीति से अवकाश ले लिया यद्यपि उन्होंने देश की राजनीतिक स्वाधीनता से अपने-आपको अलग नहीं किया। उन्होंने अनुभव किया कि स्वाधीनता मिलकर रहेगी, अतः उनका अब विशेष उपयोग नहीं रहा। उनका विश्वास था कि वे अपनी शक्तियों को देश का ज्ञान-विज्ञान अधिक गहन बनाने में लगाकर भारत की अधिक सेवा कर सकेंगे। उन्होंने अपने विराट मानस को, पुरानी जंग खायी आत्मा की कुञ्जी की पुनर्प्राप्ति की ओर केन्द्रित किया, जो, जैसा कि उनका विश्वास है, मनुष्य के लिए एक नये ज्ञान और बल का द्वार खोल देगी। वे आधुनिक विज्ञान और हिन्दू धर्म ग्रन्थों के ज्ञान में पले। वे आज उसका भारत में एक नया साहसिक अर्थ निकाल रहे हैं। वे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अंगरेज़ी, फ्रेन्च, जर्मन बोलते और लिखते हैं। और अभी वे अपने देशवासियों को अपने अठारह वर्ष की साधना के फलस्वरूप एक नया सन्देश उतारनेमें व्यस्त हैं। वह भारत के आध्यात्मिक संघर्ष और पश्चिम की गतिविधियों को समंजित करने का प्रयास कर रहे हैं और उस लक्ष्य के निष्पादन के लिए वे आत्मा की सारी शक्तियों को प्रशिक्षित कर रहे हैं। पश्चिम, जो आज पूरब को निष्क्रिय, जड़ और पूर्ण रूप से विरक्त समझ रहा है, कुछ ही दिनों में यह देखकर चकित रह जायेगा कि वह किस प्रकार प्रगति और विकास के पागलपन में अपने को बहुत पीछे छोड़ गया है। यदि रामकृष्ण, विवेकानन्द और श्रीअरविन्द की भाँति भारतमाता अपनी शक्ति थोड़ी देर के लिए विचारों की गहराई में समेट लेती है तो वह केवल इसलिए कि अगली छलांग के लिए अधिक शक्ति प्राप्त कर सके। श्रीअरविन्द घोष आत्मा की अनन्त शक्तियों और मानव विकास में असीम श्रद्धा रखते हैं। वे यूरोप की भौतिक और वैज्ञानिक विजयों को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे इसे अन्त नहीं, प्रारम्भ मानते हैं। वे इसी तरीके से भारत को सबसे आगे बढ़ते देखने की आकांक्षा रखते हैं। उनका विश्वास है कि "मानवता आज एक नये ज्ञान, एक नयी शक्ति, एक नयी क्षमता द्वारा अपना दायरा बढ़ाना चाहती है जो मानव-जीवन में उतनी ही महान क्रान्ति ला देगी जितनी बड़ी क्रान्ति भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी।"

इस लक्ष्य की सिद्धि तब होगी जब समन्वित या पूर्ण विज्ञान में, अन्तःप्रेरणा, मन के प्रबोधक और कर्णपाल के समान, क्रमबद्ध और कृत संकल्प होकर समाविष्ट हो और तर्कणा उसके एक सिपाही की तरह काम करे। भागवत एकता और अभीप्सुमानव के बीच जो निरन्तरता है उसमें अब कोई अन्तराल न होगा। ईश्वर में स्वतन्त्र विचरण करने के लिए अब भ्रामक प्रकृति को त्याग देने की समस्या कभी नहीं उठेगी। सम्पूर्ण प्रकृति की सानन्द स्वीकृति, समर्थन और सेवकाई द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता उपलब्ध हो सकती है। किसी चीज को त्यागने या दबाने की आवश्यकता नहीं होगी। उनकी अनन्त विविधता और बहुलता में अपनी सभी शक्तियों के साथ, और खुली आँखों के साथ, हम, शान्त और अनासक्त सत्ता की उपलब्ध एकता की गहराई से समग्रता और वैश्व आनन्द के रूप में जीवन का आलिंगन करेंगे। भगवान मनुष्य में और मनुष्य के द्वारा कार्य करता है और उसमें निवास करनेवाले मुक्त मनुष्य इस संसार में उन्हीं से प्रेरित और संचालित कर्मधारा के रुप बन जाते हैं।

अत: पुनरुज्जीवित हो रहे धार्मिक, प्रबुद्ध और वीर भारत द्वारा सर्वाधिक सम्पूर्ण ज्ञान को सर्वधिक प्राणिक कर्म के साथ समन्वित किया जा रहा है। प्राचीन महान ऋषिओं की श्रृंखला की अन्तिम कड़ी की फैली भुजाओं में एक नयी सर्जन-प्रेरणा का धनुष है।

यह कभी न भूलना कि तुम अके ले नही हो। भगवान तुम्हारे साथ हैं और तुम्हें मदद दे रहे हैं, मार्ग बता रहे हैं। वह एक ऐसे साथी हैं जो कभी तुम्हारा साथ नही छोड़ते। वह एक ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम आश्वासन प्रदान करता है, बल देता है। श्रद्धा बनाए रखो और तुम्हारे लिए वह सब कुछ कर देंगे।

श्रीमाँ

स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के आधार-शिल्पी

-आचार्य जे.बी.कृपलानी

श्रीअरविन्द के सम्बन्ध में कुछ कहना आनन्द और गौरव की बात है, इसलिए उनकी ७६ वीं जयंती पर कुछ कहने के लिए मैं तुरन्त तैयार हो गया। पर जब मैं अपने विचारों को लिपिबद्ध करने लगा, मैंने अनुभव किया कि यदि मुझमें कुछ बुद्धि या अध्यात्म-भाव है भी, तो उसके बूते का कार्य यह नहीं है। पोंडिचेरी गमन के पूर्व के श्रीअरविन्द के जीवन और कार्य के सम्बन्ध में कुछ कहना आसान है। एक युवा होने के नाते कॉलेज छोड़ने के तत्काल बाद मैं 'वन्दे मातरम्' और बाद में 'कर्मयोगी' के माध्यम से उनके लेखन से परिचित हुआ। तब श्रीअरविन्द जो राजनीतिज्ञों में सबसे कम वय के और इस क्षेत्र में नये थे, इन पत्रों में सामयिक घटनाओं पर नियमित रूप से अपने विचार और टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते थे। उनका लेखन मौलिकता की महत्ता से पूर्ण है और उनमें अत्यन्त प्रौढ़ बौद्धिकता झलकती है।

उनकी रचनाओं से पाठकों को उस उत्कट इच्छा का पता चला जो उनके हृदय को दग्ध किये दे रही थी। वे इस प्राचीन और गौरवशाली देश-वह देश जिसने जाति की प्रगति में सर्वोच्च आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और भौतिक योगदान किया है और यदि उसे अवसर मिले तो अब भी मानव के ज्ञान, अनुभव और सुख में महत्तर योगदान कर सकता और सुख में महत्तर है-की पूर्ण और अबाधित स्वाधीनता से कुछ भी कम स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। श्रीअरविन्द की देशभक्ति समूहगत स्वार्थ की भावना से ऊपर आसक्तिपूर्ण प्रेम तक पहुँच गयो थी जो मातृभूमि के समक्ष नमित थी और जिस भूमि को उन्होंने सहज ही 'माँ' कहा। यह माँ कई रूपों में विभिन्न वसनों में उपस्थित है; सारी बुद्धिमता, गुण, सत्य, प्रेम और सौन्दर्य उसी में है जिसकी प्रतिमा का पूजन हम सब बच्चे देश के हर मन्दिर में करते हैं। यह सब आज यथार्थवादी के लिए सर्वथा रोमांचक और भावना मात्र लग सकता है, पर जो नये विचार के उर्ध्वगामी प्रभाव का अनुभव करते हैं, उनकी नैतिक-गठना पर इसका दृढ़कारी प्रभाव पड़ता है और उनका चरित्र ऐसा संवरता है कि वे अपने संकीर्ण व्यक्तिगत अहं को भूलकर इसे देश और जाति में तिरोहित कर देते हैं। अहं के इस लय का राष्ट्रीय जीवन पर उत्साहजनक प्रभाव पड़ा।

इससे कला और साहित्य में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ और इसने विचार, कर्म और अनुभव की नयी प्रणाली को जन्म दिया। इसने हमें माँ की पवित्र वेदी पर कष्ट और त्याग को उल्लासमय कुछ साल बाद पूजा के रूप में ग्रहण करना बताया। इसीलिए कुछ साल बाद भारतीय क्षितिज पर जब महात्मा गांधी उभरे तो उन्हें मात्र इसी कारण से कर्मक्षेत्र अनुर्वर नहीं मिला। आधारशिला रखी जा चुकी थी और जो लोग राष्ट्रीय यज्ञ में कूदे, वे विदेशी शासन के भयावह उत्पीड़न से उबर कर आये थे। ये वे ही थे जिन्हें श्रीअरविन्द के लेखन ने नवीन भावमयता से प्रेरित किया था।

उनके जीवन का यह अध्याय षडयंत्रपूर्ण उस मुकदमे के साथ समाप्त हो गया, जिसमें वे प्रधान अभियुक्त थे। वे बरी हो गये और यह उस देशभक्त के जीवन में युगान्तर था। इसी मुकदमे के सम्बन्ध में बाद में उन्होंने लिखा कि एक दिन यकायक मेरे लिएकचहरी का दृश्य रूपांतरित हो गया। उन्हें लगा कि मजिस्ट्रेट, अभियोग अधिकारी, जजों की पांत, बचाव-वकील और श्रोता सभी भगवान की प्रतिमाएं हैं। यहीं से भविष्य के योगी की रचना शुरू होती है।

१९१० में श्रीअरविन्द पांडिचेरी गये और यहीं से उनका 'एकान्तवास' शुरू होता है। कहा जाता है १९२० से वे साधना कक्ष से बाहर नहीं निकले। उन्होंने किसी से बातचीत नहीं की। वे पत्रों द्वारा और बाद में उनसे मिलीं फ्रांसिसी महिला 'माँ' द्वारा जो स्वयं एक महायोगी हैं, आश्रम के साधकों से बातचीत करते हैं। श्रीमाँ ही आश्रम की सारी व्यवस्था करती हैं। हमें बतलाया गया कि यह आश्रम सार्वजनिक संस्था नहीं है बल्कि उस महागुरु का परिवार है, वे ही उस समुदाय के कल्याण के लिए उत्तरदायी हैं और उन्हीं के प्रति सदस्य भी उत्तरदायी हैं।

सदैव यह प्रश्न पूछा जाता है: "क्या श्रीअरविन्द ने जीवन और उसकी चिन्ताओं से अवकाश नहीं ग्रहण कर लिया है? क्या वे उन अधिकांश योगियों और रहस्यवादियों की तरह केवल ब्रह्माण्ड की गुत्थी सुलझाने और व्यक्तिगत मुक्ति के लिए ही नहीं सचेष्ट हैं?" उनके अनुयायी दृढ़तापूर्वक इसे नकारते हैं। इस नकार के पक्ष में प्रचुर प्रमाण हैं। जिसने उनकी रचनाओं पर विहंगम दृष्टि भी डाली होगी वह देख सकता है कि उनकी दृष्टि किसी भी कोने में चल रहे साहित्यिक, कलागत, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनों पर पड़ती रही। वे आधुनिक विचार और जीवन की सारी धाराओं से भिज्ञ हैं। उनकी यह भिज्ञता वैसी ही नहीं जैसी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए सचेष्ट लोगों की जीवन उसकी और बहुत-सी प्रकारगत चिन्ताओं और उतार-चढ़ाव में होती है। श्रीअरविन्द पूर्ण योग की एक नयी व्यवस्था विकसित कर रहे है उनका कहना है कि इस ग्रह पर विकास की प्रक्रिया तथाकथित मृतपदार्थ से जीव को जन्म देकर मनुष्य तक पहुँची जिसकी अपनी विशेषता मानस है इस मनोगत घटक को

अतिमानसी इकाई में समुन्त होना है। जब वह इस स्तर पर आ जायेगा, समाज और जीवन के सारे बाह्य अन्तरविरोध हल हो जायेंगे और विविध भंजनों से उत्पीड़ित आज का व्यक्ति आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर लेगा। श्रीअरविन्द ने इस पूर्ण योग का विवरण अपनी बृहत् पुस्तक 'दिव्य जीवन' दिया है। उसका एक महत्वपूर्ण अवतरण है:

"मानसी प्रकृति और मानसी विचार ससीम की चेतना पर आधारित हैं; अति मानसी प्रकृति अपने स्वरूप में असीम की चेतना और शक्ति है। अतिमानसी प्रकृति हर वस्तु को एकत्व की दृष्टि से देखती है, और सभी वस्तुओं, महानतम विस्तार और अनेकत्व को भी, जो मस्तिष्क के लिए शक्तिशाली अन्तरविरोध हैं उन्हें भी, एकत्व के प्रकाश में देखती है; इसकी इच्छा, विचार, अनुभूतियाँ,

श्रीअरविन्द हमें बतलाने आये थे-
"सत्य को पाने के लिए पार्थिवता को
छोड़ना आवश्यक नहीं है, आत्मा को
प्राप्ति के लिए जीवन का त्याग जरूरी
नहीं है, दिव्यता के साथ सम्बन्ध
जोड़ने के लिए दुनिया को न तो छोड़ने की
आवश्यकता है और न ही सीमित विश्वासों के
साथ जीने की। भगवान हर कहीं, हर
वस्तु में है और यदि वह गुप्त है, तो इसीलिए
कि हम उसे खोजने का कष्ट उठाना
नहीं चाहते।"

-श्रीमाँ

समझ एकत्व के बीज से बने हैं। इसकी कर्मधारा उसी आधार पर गतिशील है। इसके विपरीत मानसी प्रकृति आरम्भ से ही सोचने, देखने, इच्छा तथा अनुभव करने और समझने में विभाजित दृष्टि से काम करती है और वह एकत्व की सिर्फ कल्पित समझ ही रखती है। यदि यह एकत्व का अनुभव करती भी है, तो इसे सीमा और विभिन्नता पर आधारित एकत्व की दृष्टि से काम करना पड़ता है। पर अतिमानसी जीवन, दिव्य जीवन बुनियादी, सहज और आन्तरिक एकत्व का जीवन है ।"

कहा जाता है कि इस योग के परिणाम या लाभ किसी मठ या विहार तक सीमित नहीं होंगे वरन् इसका असर जीवन औरसमाज पर होगा। "अज्ञानी जीवन पर सामंजस्य का एक महत सिद्धान्त हावी होगा; विसंगति, अंधखोज, संघर्षों का टकराव, अतिचार और दमन का असामान्य उतार चढ़ाव, सम्मिश्रण और संघर्ष में कार्यगत प्रच्छन्न शक्तियों का अस्थिर संतुलन इस प्रभाव का अनुभव करेंगे और जीवन के विकास की महत्तर व्यवस्थित गति और सामंजस्यपूर्ण कार्यक्रम प्रगतिशील जीवन और चेतना के महत्तर बोधगम्य प्रबन्ध, एक महत्तर जीवन-व्यवस्था को जन्म देंगे। मानव-जीवन में सहज ज्ञान और सहानुभूति तथा समझदारी का मुक्त उपयोग होगा, आत्मा और वस्तुओं की सच्चाई के अधिक स्पष्ट बोध की उपस्थिति होगी और अस्तित्व के अवसर और कठिनाइयों से अत्यधिक तेजस्विता से निपटा जा सकेगा। चेतना की समुन्नति और जड़ता की शक्ति के बीच, प्रकाश और अंधकार की शक्तियों के बीच लगातार अन्तरग्रथित और उलझन भरे संघर्ष के स्थान पर विकास प्रक्रिया मंद ज्योति से महत् ज्योति की ओर क्रमिक रूप से प्रगति करेगी।"

इन हिमानी ऊँचाइयों से अब नीचे की बात करें: आज १५ अगस्त है, आजादी का दिन, जिसके लिए राष्ट्र ने बापू के नेतृत्व में काम किया और कष्ट सहन किया। यह श्रीअरविन्द का जन्म दिन भी है। पिछले वर्ष इस अवसर पर अपने संदेश में उन्होंने कहा था:

"इस समानता को मैं संयोग या आकस्मिक घटना नहीं मानता बल्कि उस देवी शक्ति द्वारा प्रदत्त और स्वीकृत मानता हूँ, जो मेरे कार्य को जीवनारंभ से ही प्रेरित करती रही है ।

वे आगे कहते हैं: "भारत ने स्वाधीनता प्राप्त कर ली है, एकता नहीं। स्वाधीनता भी भंग और खण्डित।" इसलिए उनका विचार है कि "भारत का विभाजन समाप्त होना चाहिये-तनाव में कमी, शांति और मैत्री की आवश्यकता और उस उद्देश्य से एकत्व के माध्यम से भी इसकी आशा है।" इसलिए महागुरु के शब्दों में एक नया काम है, जिसे हमें समझना है। यह उन लोगों के जीवनकाल में चरितार्थ नहीं होगा जो वर्षों से वीरतापूर्ण स्वाधीनता आन्दोलन का बोझ सम्हाले रहे। इसलिए इस काम को नयी पीढ़ी को सौंपना होगा, जो निश्चय ही इस कार्य को पूरा करेगी, इस बात को याद रखते हुए कि "विभाजित भारत एक गुलाम भारत है।" वन्दे मातरम्!

(15 अगस्त 1948 को श्रीअरविन्द जन्म दिवस के
अवसर पर ऑल इण्डिया रेडियो से प्रसारित)

आश्रम गतिविधियाँ

05 जुलाई 2021 - तारा दीदी का जन्मदिवस

पारंपरिक तरीके से दीदी की 85वीं जन्मजयंती मनाई गई। दिनभर स्नेहिजनों का तांता लगा रहा। कई कार्यक्रम सुचारु रूप से सम्पन्न हुए।

HAPPY BIRTHDAY
TARA DI

12 अगस्त 2021 – व्यावसायिक प्रशिक्षार्थियों के मध्य भाषण-प्रतियोगिता

प्रतियोगिता में प्रशिक्षार्थियों ने बड़े उत्साह से भाग लिया

13 अगस्त 2021 – चाचाजी का जन्मोत्सव

हवन का आयोजन एवं चाचाजी के जीवन पर आधारित चलचित्र प्रदर्शित की गई।

12,13,14 अगस्त 2021 – आभासीय मंच पर त्रि-दिवसीय सम्मेलन (हिन्दी में)

यह अम्मेलन श्रीअरविंद आश्रम-दिल्ली शाखा एवं श्रीअरविंद सोसाइटी (हिन्दी क्षेत्र समिति) के संयुक्त प्रयास से, श्रीअरविंद की 150वीं जन्म-जयंती के आरंभ पर, आयोजित की गई। समारोह को सर्वश्री डॉ. अनिल वाजपेयी, डॉ सुरेश चन्द्र त्यागी, डॉ चरण सिंह, डॉ रमेश बिजलानी, डॉ आलोक पांडेय एवं श्रीमती डॉ. सुमन कोचर ने संबोधित किया। संचालन श्री मनोज शर्मा ने किया। इनके अलावा सुश्री तारा जौहर एवं डॉ प्रकाश वर्मा का वाचन हुआ और सर्वश्री गौरव बिष्ट एवं सिद्धान्त नेगी ने भजन प्रस्तुत किए।

15 अगस्त 2021 – श्रीअरविंद 150वीं जन्म जयंती समारोह का शुभारंभ

कार्यक्रम का शुभारंभ प्रात: मंगलाचरण से हुआ, जिसे आश्रम-वासियों एवं व्यावसायिक प्रशिक्षार्थियों ने प्रस्तुत किया। तत्पश्चात डॉ रमेश बिजलानी की वक्तृता, कोलकाता से विशेष रूप से पधारे शास्त्रीय संगीत के गायक पंडित शांतनु भट्टाचार्य श्री सिद्धान्त नेगी एवं प्रशिक्षणार्थियों का भजन एवं तारा दीदी के वचन का कार्यक्रम विधिवत सफलतापूर्वक आयोजित हुआ। इस अवसर पर श्री किरण बेदी, प्रथम महिला आईपीएस तथा पुदुचेरी की भूतपूर्व लेफ्टिनेंट गवर्नर भी आश्रम में पधारीं। दिन भर आश्रम में श्रद्धालुओं ने बड़ी संख्या में श्रीअरविंद को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित किए। इस विशेष अवसर पर श्रीअरविंद पर प्रदर्शनी आयोजत की गई।

श्री अर्जुन राम मेघवाल, केंद्रीय सरकार में संसदीय कार्यों के राज्यस्तरीय मंत्री, भी इस अवसर पर उपस्थित हुए।

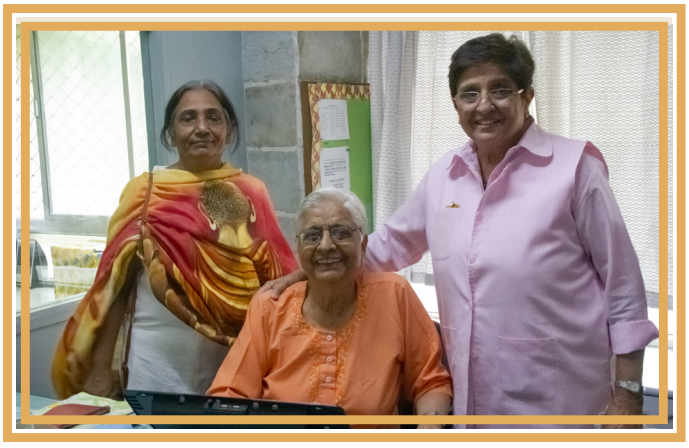

150

CALCUTTA
MUSICAL DEPOT

साप्ताहिक वार्ता

श्रीअरविंद आश्रम-दिल्ली शाखा एवं श्रीअरविंद सोसाइटी (हिन्दी क्षेत्र समिति) द्वारा (प्रत्येक रविवार, हिन्दी में आभासीय मंच पर) यथावत आयोजित हुई।

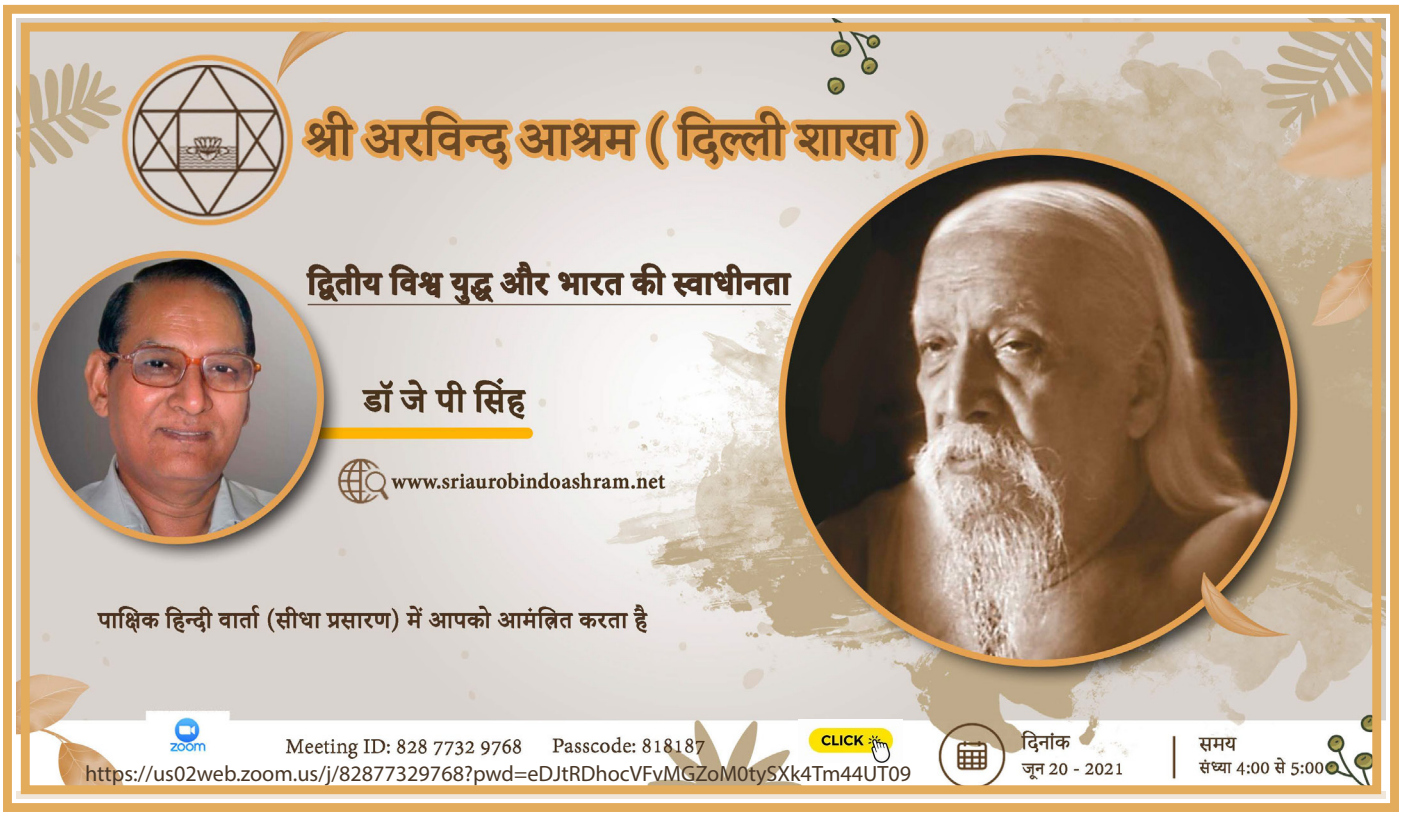

श्रीअरविन्द कर्मधारा

श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा
श्रीअरविन्द मार्ग नई दिल्ली